File No, ____________

सोनी जी की डायरी में लिखा हुआ को
नकल अशोक शर्मा के यहाँ फोटोग्राफ में
है।

No. 200

Double Ex-Thick

Monu
OFFICE FILE

सोनी जी के पास डायरी मे लिखाया हुआ की
नकल आशीष शर्मा के यहाँ उसका फोटोग्राफ है।

दर्शन: — दर्शक की दृष्टि से प्राप्त जानकारी ही दर्शन है. मनुष्य में दृष्टि एवं क्रियाशील होना पाया जाता है. ऐसी क्रियाशीलता विकास के क्रम में पाई जाने वाली क्षमता, योग्यता व पात्रता है. इनकी सम्मिलित अभिव्यक्ति ही अधिकार है. अधिकार पूर्वक ही "सत्तामयता में ज्ञान एवं अनुभूति होती है". अनुभव स्वयं में प्रमाण है. सम्पूर्ण दर्शन अनुभव के अर्थ में चरितार्थ होता है. प्रयोग एवं व्यवहार भी अनुभव का ही प्रकाशन है. इस प्रकार मानव की दर्शन क्षमता ही प्रामाणिक सिद्ध करती है. मूल्यानुभूति के आशय - मे, से, के लिए ही दर्शन क्षमता का प्रस्फुटन है.

दर्शन की उपलब्धि: — वस्तुस्थिति सत्य, वस्तुगत सत्य एवं स्थिति सत्य है. मूल्यों की ही अनुभूति होती है. मूल्य कुल मिलाकर बीस होते हैं. अन्य सभी स्थापित मूल्यों में प्रकारान्तर से "प्रेम" ही अनुभूत होता है. प्रेम पूर्ण मूल्य है. प्रेम मूल्य की विशालता की सीमा न होने के कारण वह व्यापक अनुभव होता है. "व्यापक मात्र सत्ता है" - इस प्रकार अन्य मूल्यानुभूति में भी अधिकार के अनुसार सत्तामयता ही सिद्ध होती है. इससे यह सिद्ध हो जाता है कि अध्यात्म पूर्णतः व्यावहारिक है क्योंकि व्यवहार के मूल में अनुभव ही प्रमाण है. इस प्रकार यह दर्शन अनुभवात्मक अध्यात्मवाद सिद्ध हो जाता है.

क्रिया और जीवन में मौलिक अंतर: — वह सब क्रिया है जिसमें आशा विचार, इच्छा, संकल्प एवं अनुभूति का प्रकाशन न होते हुए अस्तित्व में है. जीवन का ~~अर्थ है~~ तात्पर्य अस्तित्व में होते हुए आशा, विचार, इच्छा, संकल्प एवं अनुभूति के प्रकाशन होने से है.

मध्यस्थ क्रिया एवं मध्यस्थ जीवन में मौलिक अंतर: — प्रत्येक परमाणु में मध्यांश मध्यस्थ क्रिया है, मध्यस्थ क्रिया अनुरूप आचरण सभी अंशों में पालन हो जाना ही मध्यस्थ जीवन है. यह आचरणपूर्णता में चरितार्थ होता है. गठन पूर्णता के अनन्तर आरम्भ होता है. इस प्रकार गठनपूर्णता के ~~अनन्तर~~ अनन्तर जीवन का प्रकाशन होना ही जीवनशील होना - पूर्व स्थिति में क्रियाशील रहना पाया जाता है.

मध्यस्थ दर्शन: — समस्त प्रकृति क्रिया ~~समु~~ समुच्चय है. क्रिया तीन प्रकार से गण्य है — सम, विषम एवं मध्यस्थ.

गति = शक्ति

सत्ता ही ऊर्जा है. शक्ति का तात्पर्य गति से है. ऊर्जा में गति और तरंग नहीं है. सम्पूर्ण शक्तियों का नियोजन सापेक्षता में ही होता है. ज्ञान ऊर्जामय है. गति ही शक्ति. शक्ति स्वयं में गति है. गति ही प्रकृति है. सम्पूर्ण प्रकृति ही क्रियाशील है. क्रिया-शीलता का प्रकाशन ही श्रम, गति, परिणाम है. ऊर्जा ~~प्राप्त है~~ प्राप्त है. गति ही शक्ति है. ऐसी शक्तियों के प्रकाशन श्रम, गति परिणाम में वैविध्यता ही सापेक्ष शक्तियां हैं। जड़ प्रकृति में शक्तियां पाँच प्रकार से गण्य हैं — ताप, प्रकाश, विद्युत, चुम्बक और शब्द. चैतन्य प्रकृति में शक्तियाँ पांच प्रकार से गण्य हैं — आशा, विचार, इच्छा, संकल्प एवं अनुभूति.

सम = उद्‌भवतावादी क्रिया, विषम = ×

आत्मा ही मध्यस्थ क्रिया है. आत्मानुशासित जीवन ही मध्यस्थ जीवन है. सम, विषम एवं मध्यस्थ क्रियाएं दृष्टव्य हैं. विभवशाली शक्ति अथवा क्रिया ही मध्यस्थ क्रिया है. जिसके अनन्तर विभव ही बना रहे जिसका प्रलय न हो एवं पुन: उत्पत्ति भी न हो। उद्भव एवं प्रलय से मुक्त हो वह मध्यस्थ क्रिया है.

विकास एवं ह्रास एक परमाणु के स्तर में होता है, परमाणु के विकास के आधार पर चारों स्थितियों में सृष्टि दृष्टव्य है.

1. पदार्थावस्था 2. प्राणावस्था	जड़ सृष्टि	3. जीवावस्था 4. ज्ञानावस्था	चैतन्य सृष्टि

जड़ सृष्टि:— जिसकी लम्बाई, चौड़ाई एवं ऊंचाई जितनी है उतना ही उसका कार्य क्षेत्र हो उसे जड़ सृष्टि कहते हैं।

चैतन्य सृष्टि:— जिसकी लम्बाई, चौड़ाई एवं ऊंचाई जितनी हो उससे अधिक क्षेत्र में क्रियाशील हो साथ ही आशा, विचार, इच्छा, और संकल्प अनुभूति का प्रकटन हो वह चैतन्य क्रिया है.

ह्रास एवं विकास परमाणु की सीमा में ही होगा. प्रत्येक परमाणु में अंशों का प्रस्थापन एवं विस्थापन होना देखा जाता है. यह जब तक होता है तब तक उसे जड़ क्रिया की संज्ञा देते हैं. यह पदार्थावस्था एवं प्राणावस्था में दृष्टव्य है.

एक परमाणु में जितना अंश समाने की संभावना है उन सभी अंशों के समाविष्ट होने के पश्चात न तो कोई स्थापित होता है और न ही कोई विस्थापित. उस स्थिति का नाम गठनपूर्णता है. ऐसी गठनपूर्णता स्वयं की गति एवं वातावरण के दबाव से होती है. गठनपूर्णता के पश्चात १२२ (एक सौ बाईस) आचरण प्रकट होते हैं. अत: इससे यह कह सकते हैं कि एक परमाणु की गठनपूर्णता में १२२ अंश समाए रहते हैं

अपूर्णता = क्रिया (क्रिया मात्र की प्रकृति है)
पूर्णता = निरन्तरता।

क्रिया तीन स्वरूपों में गण्य है - श्रम, गति एवं परिणाम। अमरत्व पर्यंत परिणाम दृष्टव्य है! गठनपूर्णता ही अमरत्व का लक्षण है.

गठनपूर्णता:— जिसमें परिणाम न हो, अपरिणामी. परिणाम अमरत्व के लिए

गठनपूर्णता तक संक्रमण की स्थिति होती है. परमाणु की गठनपूर्णता के अनन्तर ही वह चैतन्य होता है अर्थात अपनी लम्बाई, चौड़ाई एवं ऊंचाई से अधिक क्षेत्र में क्रियाशील होता है. यही सूक्ष्म शरीर आत्मपुंज के नाम से गण्य है, उसी में सर्वप्रथम आशा प्रकट होती है. आशा, मन की क्रिया है अर्थात उस स्थिति में मन सक्रिय हो जाता है यह सर्वप्रथम जीने की आशा से प्रारम्भ होता है. चैतन्य बिन्दु से ही जीवन स्थापित होता है एवं उसकी निरन्तरता होती है. इसलिए जीवन नित्य एवं जन्म एवं मृत्यु एक घटना है. अनित्य प्रकृति से विकसित होकर वह नित्य के रूप में प्रकट हुई. अर्थात जो परिणामशील प्रकृति है वह विकसित होकर नित्य प्रकृति के रूप में प्रकट हुई अर्थात चैतन्य ही नित्य प्रकृति के नाम से सम्बोधित किए है

प्रत्येक परमाणु ~~गठनपूर्णता~~ गठनपूर्ण परमाणु है। संगठित इकाई एक परमाणु है। चैतन्य परमाणु में क्रम से मध्यांश को आत्मा, प्रथम परिवेशीय अंश को बुद्धि, द्वितीय परिवेशीय अंश को चित्त एवं तृतीय ~~परि~~ परिवेशीय अंश को वृत्ति एवं चतुर्थ परिवेशीय अंश को मन के नाम से जाना जाता है।

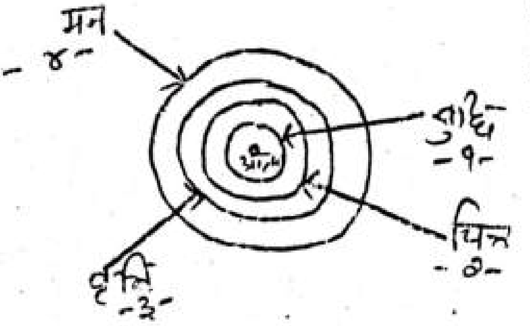

आत्मा → अनुभव करने वाला
बुद्धि → बोध करने वाली
चित्त → चिंतन करने वाला
वृत्ति → विचार करने वाली
मन → आशा एवं चयन करने वाला
अंग है। इस प्रकार इन पांचों अंगो का सम्मिलित स्वरूप ही चैतन्य इकाई है। ऐसी चैतन्य इकाई का जो सूक्ष्म शरीर का रूप है वह अपना ही एक रूप है ~~अर्थात्~~ अर्थात् कार्य क्षेत्र के अनुसार जो रूप है उसी के अनुसार ढल जाता है। जिस रूप में वह ढलता है उस आकार के एक स्थूल शरीर को वह चलाने में समर्थ होता है। मनुष्य शरीर से और अधिक सुगम आकार विकास के लिए उपयुक्त नहीं है। विकास ही मूलतः प्रकृति का मूल गुण है, लक्ष्य है एवं नियति है। इस प्रकार एक चैतन्य इकाई चींटी से हाथी तक, हाथी से मनुष्य तक शरीर को संचालित करती हुई दिखाई देती है। जड़ प्रकृति के बिम्ब संरचना में एवं चैतन्य के संचालन योग्य ~~बिम्ब~~ रचना में प्रधान अन्तर मेधस से है —

चैतन्य प्रकृति को संचालित करने योग्य बिम्ब संरचनाओं में मेधस का रहना पाया जाता है। मेधस के द्वारा ही प्रत्येक चैतन्य इकाई अपने आशा, विचार, इच्छानुसार आचार, व्यवहार एवं व्यवसाय करता है। विकास की अंतिम सीढ़ी अनुभव ही है। मेधस संरचना ही है जो प्राणावस्था की प्रक्रिया है। मेधस ही प्राणावस्था की चरमोत्कर्ष विकसित संरचना है। इससे अधिक संरचना प्रकृति में नहीं पाई जाती है। आशा, विचार, इच्छा एवं संकल्प के प्रसारण को जो स्वीकार करता है वह मेधस है। यह शरीर के शीर्ष भाग में सामान्यतः पाया जाता है।

विकास के क्रम में पदार्थावस्था से प्राणावस्था विकसित है क्योंकि पदार्थावस्था से प्राणावस्था में अधिक प्रकाशन हुआ है जैसे - जीवन, मरण, आरोह, अवरोह आदि। अधिक प्रकाशन होना ही विकास का प्रधान लक्षण है। इस प्रकार से पदार्थावस्था विकसित होकर प्राणावस्था में एवं प्राणावस्था ह्रास होकर पदार्थावस्था में अवतरित होता हुआ देखा जा रहा है। यही विकास के क्रम में प्राणपद चक्र है।

→ प्राण-पद-चक्र ←

प्राणावस्था से विकसित होने का तात्पर्य ही चैतन्य हो जाने से है। यही चैतन्य पद है। प्रत्येक चैतन्य इकाई का ह्रास पदार्थावस्था अथवा प्राणावस्था में नहीं होता है। क्योंकि गठनपूर्णता के पश्चात् प्रस्थापन एवं विस्थापन नहीं होता है। जीवन पद से विकसित होकर भ्रान्त मानव पद तक, भ्रान्त मानव ह्रास होकर

जीवावस्था तक भ्रमण किया करता है. यही विकास के क्रम में पालतू पशु है. यही भ्रान्त मनुष्य पशु मानव एवं राक्षस मनुष्य के रूप में दृष्टव्य है. यही अमानवीयता पूर्ण मनुष्य की स्थिति है. भ्रान्त मनुष्य में ही सामाजिकता की कामना है. यही कामना मानवीयता में प्रतिष्ठित होने के लिये नियन्त्रित करती है. यही अग्रिम संक्रमण का कारण है क्योंकि ज्ञानपूर्णता के अनन्तर क्रियापूर्णता एवं क्रियापूर्णता के अनन्तर आचरणपूर्णता भावी संभावना है. यही संभावना नियति का कारण है.
नियति = उत्कर्ष, प्रेरणा या मजबूरी.

जब मनुष्य भ्रान्तावस्था से संक्रमित होकर भ्रान्ताभ्रान्त अवस्था में स्थित होता है तब मानवीयता से परिपूर्ण हो जाता है. यही सामाजिकता का आधारभूत आवश्यकीय तत्व है - अर्थात मानवीयता पूर्ण जीवन में ही सामाजिकता सफल होती है. मानवीयता पूर्ण मनुष्य विकसित होकर अति मानवीयता पूर्ण देव मानवीयता से सम्पन्न होता है. देव मानव से ह्रास होकर मानवीयता पूर्ण मनुष्य पद पर अवस्थित होता है. यही विकास के क्रम में देव पद [illegible] है. ← देवपद: ऋषि

इसी स्थिति (पद) में क्रियापूर्णता होती है फलतः सतर्कता से सम्पन्न होती है. यही क्रियापूर्णता ही सतर्कता है. यही विश्राम है। मानवीयता पूर्ण जीवन में ही विश्राम मिलता है.

विश्राम ही सुख की [illegible] निरन्तरता है. यही मनुष्य की चिर पिपासा है. आचरण पूर्णता मनुष्य का अंतिम लक्ष्य है. देव मानवीयता से विकसित होकर अथवा संक्रमित होकर दिव्य मानवीयता से सम्पन्न हो जाना ही विकास का चरमोत्कर्ष है. यही पूर्ण जागृति एवं आचरण पूर्णता है.

पूर्ण जागृति का तात्पर्य अन्तिम सत्य अथवा मूलसत्य में अनुभूत हो जाने से है. ऐसा मूल सत्य सत्तामयता ही है. जिसको परमात्मा, ब्रह्म आदि शब्दों से इंगित कराया गया है, उसमें (ब्रह्म) अनुभूत हो जाना ही मध्यस्थ जीवन का चरितार्थ रूप या मध्यस्थ जीवन है. यही जीवन की पूर्णता, पूर्णता के अनन्तर पूर्णता एवं नित्य-पूर्णता है. यही प्रकृति का अभीष्ट लक्ष्य एवं चरितार्थता है ऐसे व्यक्तियों की अधिकाधिक संख्या धरती पर हो जाना ही धरती को स्वर्ग बनाने, मनुष्य को देवता बनाने, धर्म सफल होने एवं नित्य मंगल होने का एक मात्र उपाय है।

ॐ शांतिः शान्तिः

ज्ञानात्मनो विजयते —
ज्ञानात्माओं की ही विजय होगी.

मध्यस्थ दर्शन का मूल तत्व मनुष्य के व्यवसाय काल में नियम, व्यवहार काल में न्याय, विचार काल में समाधान एवं अनुभव काल में सत्य प्रमाणित होने से है।

दर्शन का मूल तत्व ज्ञान हो जाने से ही अथवा जानकारी हो जाने से है।

मध्यस्थ क्रिया ही आत्मा और आत्मानुशासित जीवन ही मध्यस्थ जीवन है ऐसे जीवन को प्रकाशित कर देना ही मध्यस्थ दर्शन है। अर्थात (मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि का आत्मानुरूप होने तक विकास है) सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति के कारण ही विकास की परम्परा है दृष्टि के द्वारा प्राप्त जानकारी ही दर्शन है

दर्शन: - दर्शक की दृष्टि द्वारा दृश्य की सत्यता को जानने की प्रक्रिया सहित अधिकार ही दर्शन क्षमता एवं उससे होने वाली उपलब्धि ही दर्शन है। सत्तामयता में ज्ञान एवं अनुभूति होती है. यह भी विकास के क्रम में पाई जाने वाली क्षमता एवं अधिकार है.

निरीक्षण, परीक्षण, सर्वेक्षण, प्रयोग, व्यवहार, अध्ययन, मनन, विचार, चिंतन के भेद-प्रभेदों में दर्शन प्रक्रिया गण्य है बोध एवं अनुभूति की क्षमता से ही सत्तामयता में ज्ञान एवं अनुभूति प्रमाणित होती है.

"प्रयोग से प्रकृति की सिद्धि होती है एवं अनुभव से सत्ता में सिद्धि होती है"

27/4/80 सत्ता में प्रकृति सम्पृक्त होने के फलस्वरूप विकास की श्रृंखला दिखाई देती है. आत्मा ही मूल में मध्यस्थ क्रिया है आत्मानुशासित होने तक बुद्धि, ~~[illegible]~~, चित्त, वृत्ति एवं मन का विकास होता है. दर्शन — दृश्य को दर्शक की दृष्टि के द्वारा देखने के लिए की गई प्रक्रिया ही दर्शन है. आत्मानुशासित यही निरीक्षण, परीक्षण, सर्वेक्षण, प्रयोग, व्यवहार, अध्ययन, विचार, चिंतन के प्रभेदों में गण्य हुआ है.

आत्मानुशासित जीवन ही मध्यस्थ जीवन है. ऐसे जीवन को प्रकाशित कर देना ही मध्यस्थ दर्शन है-

भूमि स्वर्गताम् यातु, मनुष्यो यातु देवताम्

धर्मो सफलताम् यातु, नित्यम् यातु शुभोदयम्. भूमि स्वर्ग हो जाए, मनुष्य देवता हो जाए, धर्म सफल हो जाए, नित्य मंगल हो।

0

सत्ता एवं प्रकृति का सहअस्तित्व अनन्त काल से अनन्त काल तक है. सहअस्तित्व का तात्पर्य निर्विषमता पूर्वक (परस्पर विरोध न होना) रहने से है. यही सुख शांति, संतोष एवं आनन्द है. इस प्रकार सत्ता एवं प्रकृति का सहअस्तित्व ही सुख, संतोष और आनन्द है क्योंकि सत्ता एवं प्रकृति में कहीं भी विरोध होने का प्रमाण नहीं है. इस प्रकार सह-अस्तित्व एक शाश्वत सत्य के रूप में दिखाई देता है क्योंकि सत्ता में प्रकृति के अस्तित्व का अभाव किसी काल में नहीं है. प्रकृति की परस्परता में सहअस्तित्व को पाना ही विकास का तात्पर्य है. प्रकृति में ही सीमा एवं अनेक सीमा है यही संख्या को प्रकाशित करता है यही अनेकता परस्परता का द्योतक हुई है. इन्हीं परस्परता में ही इस पृथ्वी पर विकास की चारों अवस्थाएं ~~प्रकाशित~~ प्रकाशित ~~हुई~~ हैं; पदार्थावस्था से भी सजातीय सहअस्तित्व की स्थिति दृष्टव्य है. इसी आधार पर मनुष्य जाति में सहअस्तित्व की संभावना समाहित है. उसे अध्ययन सुलभ एवं व्यवहार सुलभ कर देना ही सहअस्तित्व है।

सहअस्तित्ववाद की पुष्टि के लिए तीन वादों को प्रतिपादित किया गया है -

1. समाधानात्मक भौतिकवाद
2. व्यवहारात्मक जनवाद
3. अनुभवात्मक अध्यात्मवाद.

समाधानात्मक भौतिकवाद का तात्पर्य भौतिक समृद्धि से परिपूर्ण होने से है इससे परिपूर्ण होने का लक्ष्य है - प्रत्येक मनुष्यों अधिक उत्पादन, कम उपयोग करने योग्य योग्यता से सम्पन्न होने की संभावना है उसे व्यवहारान्वयन एवं व्यवस्थान्वयन कर देना ही समाधानात्मक भौतिकवाद का अभीष्ट है जो सहअस्तित्ववाद का एक प्रमुख अंग है.

व्यवहारात्मक जनवाद का तात्पर्य ~~यह है कि~~ सम्पूर्ण जनाकांक्षाओं जो साम्य कामना है उसे व्यवहारान्वयन करने योग्य क्षमता को स्थापित करने एवं चरितार्थ करने एवं चरितार्थ करने से है ऐसी साम्य कामना न्याय पाने के लिये है क्योंकि प्रत्येक मनुष्य जन्म से ही

1. न्याय पाना चाहता है,
2. सही करना चाहता है.
3. सत्यवक्ता होता है.

वह इन तीन यथार्थ गुणों सहित ही जन्मता है.

न्याय का तात्पर्य मानवीयता पूर्ण व्यवहार करने से है. साथ ही प्राकृतिक, सामूहिक अर्थात सामाजिक एवं बौद्धिक नियमों को पालन करने से है. यह पालन, व्यक्ति परिवार समाज, राष्ट्र एवं अन्तर्राष्ट्र के स्तर में चरितार्थ होने से है. मनुष्य के लिए मानवीयता से परिपूर्ण हुए बिना देव मानवीयता एवं दिव्य मानवीयता को पाना संभव नहीं है. इसका तात्पर्य यह हुआ कि विकास के मार्ग का अवरोध ही जीवन का अन्तराय है. यही विषमता एवं क्लेश है।

एक व्यक्ति मानवीयता से परिपूर्ण हो, उसका सहयोगी परिवार, प्रोत्साहन योग्य समाज, संरक्षण योग्य राष्ट्र व्यवस्था एवं उसके अनुकूल योग्य अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति न होने की स्थिति में उसका विस्तार संभव नहीं है. इसके विपरीत में होने से उसका विपुलीकरण होना स्वभाव सिद्ध तथ्य है. एक व्यक्ति का मानव, देव मानव, दिव्य मानव हो जाना विशेष कठिनाइयों को झेलने पर सम्भव हो सकता है। उसका सामान्यीकरण करने के लिए उक्त पांचों स्थितियों का संधान आवश्यक है संधान का तात्पर्य व्यवस्थित रूप में जुड़ जाने से है। यही व्यवहारात्मक जनवाद है।

अनुभवात्मक अध्यात्मवाद के संदर्भ में यह स्पष्ट किया है कि सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति अनुभव करने पर्यंत विकास के लिए बाध्य है। अध्यात्म का तात्पर्य ही है सम्पूर्ण आत्माओं का आधार. सम्पूर्ण आत्माओं से तात्पर्य - पदार्थात्मा, प्राणात्मा, जीवात्मा, ज्ञानात्मा से है इससे अधिक प्रकृति नहीं है अर्थात प्रकृति का आधार ही अध्यात्म (सत्ता या ब्रह्म) सिद्ध होता है. इस प्रकार सत्ता ही अध्यात्म, ब्रह्म, साम्य सत्ता, निरपेक्ष शक्ति आदि शब्दों से इंगित की गई है. मूलत: सत्तामय प्रकृति ही प्रकाशन है या प्रकटन है. विकसित प्रकृति, अविकसित प्रकृति पर अधिकार [illegible] समान के साथ व्यवहार करती है - [illegible]

[illegible]

के अनन्तर केवल व्यापकता ही अनुभव के लिए सत्य है. सर्वोच्च विकसित इकाई ही दिव्यात्मा है. दिव्य आत्माओं द्वारा देवात्मा एवं मनुष्यात्माओं को विकास के लिए प्रेरणा प्रदान होना स्वाभाविक तथ्य है.

जीने दो और जियो :— यह मानवीय न्याय के अनुसार कहा गया है क्योंकि मनुष्य का सह अस्तित्व के बिना सुखी होना संभव नहीं है. सुख ही मनुष्य जीवन का अभीष्ट है. अभीष्ट का विस्मृत होना संभव नहीं है न ही उसका अभाव होता है. यह नियति की महत्ता है. इस प्रकार मनुष्य में जीने देने वाली अनवरत (निरन्तर) प्रवृत्ति का उद्गार है - जीने दो और जियो.

उपदेश :— जाने हुए को मानलो, माने हुए को जानलो : - यह उपदेश मनुष्य के जीवन में सतत कामना बौद्धिक समाधान के प्रति है - उसी के उपलक्ष्य में कहा गया है. मनुष्य को समाधान पाने के लिए दो विधियां हैं :

(१) जो जितना जानता है उसे चरितार्थ करने से 'मानना' हुआ - यह समाधान का एक बिन्दु है।

(२) जो जितना मान लिया है उसे जानलेने पर समाधान हुआ. यह दूसरा बिन्दु है। इससे अधिक मनुष्य को समाधान पाने के लिए और कोई पद्धति, प्रणाली या उपाय नहीं है।

मान्यता :— ज्ञान अर्थात सत्ता में व्यापकता एवं प्रकृति के अनादित्व को मानकर चलते हैं. व्यापकता का ~~अर्थ~~ तात्पर्य है कहीं भी अस्तित्व का अभाव न होना. अर्थात सर्वत्र अस्तित्व मयता हो. ऐसी सर्वत्र अस्तित्व मयता को दो साक्षियों द्वारा देखते हैं :

(१) प्रत्येक ग्रह गोल के सभी ओर शून्य दिखाई देता है। शून्य का तात्पर्य है पदार्थ एवं गति से रिक्तता. यही सत्तामयता है :

(२) छोटी से छोटी इकाई एक परमाणु होती है प्रत्येक परमाणु के सभी ओर शून्य ही दिखाई पड़ता है, यही सत्तामयता है.

इस प्रकार सत्ता में स्थित, समाहित, ओतप्रोत, सम्पृक्त प्रकृति को देखा जा रहा है. प्रकृति न हो ऐसा स्थान दिखाई पड़ता है साथ ही प्रकृति न हो ऐसा कोई काल सिद्ध नहीं होता (अर्थात प्रमाणित नहीं होता) यही सत्यता इस मान्यता का अधिकार है।

सिद्धांत :— श्रम, गति और परिणाम पर ही पूरे दर्शन को प्रकाशित किया गया है। प्रकृति क्रियाशील है, क्रिया श्रम, गति एवं परिणाम के रूप में प्रकाशित है. स्थिति पूर्ण सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति की स्थितिशीलता को स्वीकार किए हैं।

प्रमाण :— प्रयोग, व्यवहार एवं अनुभव प्रमाणों पर आधारित इस दर्शन का प्रतिपादन हुआ है. अनुभव ही प्रत्यक्ष एवं प्रत्यक्ष ही प्रमाण है

यथार्थ : (१) तत्त्व स्थिर एवं जगत शाश्वत

(२) [illegible] सत्ता व्यापक : आत्मा अनेक

३. ईश्वर एक, देवता अनेक
४. मानव जाति एक, कर्म अनेक
५. भूमि एक, राष्ट्र अनेक
६. मानव धर्म एक, मत अनेक
७. जीवन नित्य एवं जन्म, मृत्यु एक घटना है।

वास्तविकता: — विकास के क्रम में स्थित अभिव्यक्तियाँ ही वास्तविकता है

अनुसंधान: — ① गठन पूर्णता ② क्रिया पूर्णता ③ आचरण पूर्णता -

आधार: — सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति ही उस अनुसंधान का आधार है -

प्रतिपादन: ① प्रकृति के विकासक्रम में चैतन्य क्रिया एवं उसका जीवन
② चैतन्य जीवन के विकासक्रम में सामाजिकता एवं अनुभवक्षमता
③ सतर्कतापूर्ण मानवीयता एवं सामाजिकता
(४) सतर्कतापूर्ण सजगता सहित देव मानवीयता
④ सजगतापूर्ण दिव्य मानवीयता
⑤ गठनपूर्णता, क्रियापूर्णता एवं आचरण पूर्णता -

सत्यता: — १. संसार ही प्रकृति, प्रकृति ही नियति, नियति ही व्यवस्था, व्यवस्था ही विकास एवं विकास ही संसार है।
२. नियम ही न्याय, न्याय ही धर्म, धर्म ही सत्य, सत्य ही ईश्वर ईश्वर ही आनन्द, आनन्द ही जीवन एवं जीवन ही नियम है।
३. मनुष्य ही कर्म करते समय स्वतंत्र, फल भोगते समय परतंत्र

शरण: — उपरोक्त सत्यताओं पर पूरा दर्शन आधारित है। मानव की शरण अखण्ड सामाजिकता (सह अस्तित्व) तथा मानव का शासन केवल मानवीयता ही है।

व्यक्ति में पूर्णता: — ① क्रिया पूर्णता तथा ② आचरण पूर्णता -
② **परिवार में पूर्णता:** — मानवीयतापूर्ण पद्धति से व्यवसाय एवं व्यवहार
③ **समाज में पूर्णता:** — अभयता, भौतिक समृद्धि, बौद्धिक समाधान -
(४) **राष्ट्र में पूर्णता** — कुशलता, निपुणता एवं पांडित्य।
(५) **अन्तर्राष्ट्र में पूर्णता:** — संस्कृति, सभ्यता, विधि एवं व्यवस्था की एकात्मकता

लक्ष्य: — सुख, शांति, संतोष एवं आनन्द

धर्मनीति का आधार: — तन, मन, धन रूपी अर्थ के सदुपयोग हेतु व्यवस्था

राज्यनीति का आधार: — तन, मन, धन रूपी अर्थ की सुरक्षा हेतु व्यवस्था

अनुगमन — स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्म से कारण, कारण से महाकारण।
स्थूल का तात्पर्य पदार्थावस्था, प्राणावस्था की स्थिति से है। सूक्ष्म का तात्पर्य मन, वृत्ति, चित्त क्रिया-प्रक्रिया से है। कारण का तात्पर्य बुद्धि एवं आत्मा के क्रिया एवं स्थिति से है। महाकारण का तात्पर्य अध्यात्म से है।

२८/९/८०

जागृति के लक्षण: — अमानवीयता से मानवीयता, मानवीयता से देवमानवीयता, देव मानवीयता से दिव्य मानवीयता जागृति है।

जीवन मांगल्य – (पंच मांगल्य)

1. जीवन स्वयं में मंगल है
2. उदय मंगल
3. समाधान मंगल
4. जागृति मंगल
5. अनुभव मंगल.

इस प्रकार पाँच मांगल्य हमारे जीवन के साथ जुड़े हुए हैं. इसमें से किसी भी मांगल्य को छोड़कर जीवन में उत्साह नहीं है. मानवकुल में समाकृत जीवन को पाना आवश्यक है.

सर्व मांगल्य :– मनुष्य के चारों आयाम (व्यवहार, व्यवसाय, विचार एवं अनुभूति) पांचो स्थितियों (व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र एवं अन्तर्राष्ट्र) में निर्विषमता एवं एकसूत्रता ही सर्व मांगल्य है.

महा मांगल्य :– सत्यानुभूति, जीवन मुक्ति ही महा मांगल्य है.

उपलब्धि :– यह दृष्टि जीवन चरितार्थ होने पर

1. सह अस्तित्व में स्थापित मूल्यों की अनुभूति
2. समाधान समृद्धि
3. जीवन मुक्ति में नित्य जागरण प्रकृति की चारों अवस्थाओं में सामरस्यता अर्थात् सह अस्तित्व के लक्षण पाए जाते हैं। जैसे :–

1. पदार्थावस्था में रूप सामरस्यता
2. प्राणावस्था अर्थात् वनस्पति अवस्था में गुण सामरस्यता
3. जीवावस्था में परस्पर आशा सामरस्यता – धर्म सामरस्यता –
4. ज्ञानावस्था में धर्म सामरस्यता दृष्टव्य है. मानव धर्म सुख, शान्ति, संतोष एवं आनन्द के रूप में प्रकाशित है यही सर्व मानव की कामना है. उसके अनुरूप अर्थात् उसे अनुभव करने योग्य संस्कृति, सभ्यता, विधि एवं व्यवस्था का पालन सामरस्यता को प्रकाशित करता है. सामरस्यता का तात्पर्य परस्पर विरोध न होने से है. प्रत्येक इकाई में आचरण एवं स्वभाव का अभाव नहीं है. अस्तु ऐसे स्वभाव एवं आचरण से सम्पन्न हो जाना ही परस्पर मनुष्य में विरोध न होना है. अस्तु मनुष्य में परस्पर स्थापित मूल्यों का अनुभव ही सामरस्यता का प्रत्यक्ष रूप है.

स्थापित मूल्य सार्वभौमिक है. मनुष्य धर्मानुगामी होने के लिए बाध्य है. इसी नियति के कारण मानव व्यापी सामरस्यता की अर्थात् मनुष्य में परस्पर निर्विषमता होने की संभावना स्पष्ट है. धर्म सामरस्यता के अनुरूप आशा, गुण, एवं रूप सम्बन्धी सामरस्यता की सीमाएं गौण प्रायः हो जाती हैं क्योंकि गुरु मूल्य में लघु मूल्य समाता ही है. धर्म सामरस्यता से अतिरिक्त अन्य सामरस्यताएं कही गई हैं वे पूर्ण नहीं हैं क्योंकि पदार्थावस्था में किसी एक रूप सामरस्यतावादी तत्व दूसरे रूप सामरस्यतावादी तत्व से संघर्ष करता हुआ देखा जाता है. इसी प्रकार वनस्पतियों में गुण सामरस्यता का विपुलीकरण होते हुए भी अन्य गुणवाली वनस्पतियों के साथ संघर्ष होते हुए और जीवों में आशा सामरस्यता रहते हुए अन्य प्रकार के आशावादी जीवों के साथ संघर्ष होता हुआ देखा जाता है. इन साक्षियों से स्पष्ट हो जाता है कि पूर्ण सामरस्यता ~~मनुष्य~~ नर में धर्म पर ही आधारित पद्धति, प्रणाली एवं आचरण से सफल होती है क्योंकि अन्य तीनों अवस्थाओं के धर्म यदि पूर्ण होते तो अखण्ड सामरस्यता को वे पा लेते अथवा उन्हीं अवस्थाओं में पाने की संभावना एवं प्रयास होते, स्पष्टतया यह देखा जा रहा है कि ऐसा नहीं हुआ। साथ ही यह भी स्पष्ट हुआ है कि मानव ने ही अखण्ड सामरस्यता अर्थात् सामाजिकता एवं सह अस्तित्व को पाने की दिशा में अनेक प्रयास किया है जिसका [illegible] हो रही है.

वर्ग सीमा तक मनुष्य ने अपनी संस्कृति, सभ्यता, विधि एवं व्यवस्था को स्थापित किया है वह वर्तमान बिन्दु में अपर्याप्त सिद्ध हुआ है क्योंकि युद्ध सामाजिकता का लक्षण या सहायक तत्व नहीं है. यही ~~अपर्याप्त~~ पर्याप्त है, वर्ग व्यवस्था के अंतिम परिणति में युद्ध के लिए ही मनुष्य कृत संकल्प हुआ है. इसकी साक्षी में मानव का आकांक्षा द्वय (सामान्य आकांक्षा एवं महत्वाकांक्षा) सम्बन्धी वस्तुओं के अतिरिक्त युद्ध सामग्रियों के विपुल मात्रा से निर्माण करना और उसके प्रयोग करने के क्रम में देखने को मिल रहे हैं. इन सब तथ्यों से सिद्ध होता है कि मानव को अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए धार्मिक सामरस्यता ही एकमात्र शरण है.

सामान्य आकांक्षा का विस्तार आहार, आवास एवं अलंकार में है. महत्वाकांक्षा का विस्तार दूर गमन, दूर दर्शन एवं दूर श्रवण में है। इन का धर्म सामरस्यता को पा लेना अर्थात इसे सर्व सुलभ कर देना ही मध्यस्थ दर्शन का अभीष्ट है.

प्रकृति की अस्तित्वशीलता ही आवश्यकता, विमर्श, विराम व निर्वेद सामरस्यता, आनंद, धर्म, समाधान, सह अस्तित्व समृद्धि, जीवन सफलता एवं निर्वाह है.

"मध्यस्थ दर्शन का संदेश:-"

अभ्युदय (सर्वांगीण विकास) के लिये प्रेरणा के स्वरूप में मध्यस्थ दर्शन को मानव जनजाति के सम्मुख प्रस्तुत करने का संदेश दिया है.

मूल प्रस्थापना :- सत्ता मध्यस्थ है. सत्ता का तात्पर्य सम्पूर्ण प्रकृति जिसमें समाई हुई है. सत्तामयता पूर्ण प्रकृति ही सम्पूर्ण है. यह समग्र है नित्य स्थिति है. यह समग्र प्रलय और उत्पत्ति से मुक्त है क्योंकि ऐसा कोई काल नहीं है जिसमें सत्ता एवं प्रकृति नहीं थी और साथ ही ऐसा कोई काल नहीं है जिसमें सत्ता और प्रकृति नहीं रहेगी. क्योंकि काल स्वयं क्रिया की अवधि है. सत्ता में प्रकृति की नित्य स्थिति ही है. प्रकृति की सीमा में उत्पत्ति एवं लय की परिकल्पना मात्र भौतिक व रासायनिक परिणाम एवं परिवर्तन से ही है. प्रकृति से न तो कोई परमाणु घटाया जा सकता है और न ही बढ़ाया जा सकता है केवल ~~उसका~~ उसका स्थापन - विस्थापन ही किया जा सकता है. मृत्यु एवं जन्म मात्र एक भौतिक और रासायनिक परिवर्तन ही है. जीवन नित्य है, मानव का मूल मूर्त रूप आशा, विचार, इच्छा और संकल्प ही है. आशा, विचार, इच्छा, संकल्प और अनुभूति ही "मैं" है.

२१/१/८० सत्ता मध्यस्थ है. मध्यस्थ इसलिए है क्योंकि मध्यस्थ में न तो कोई तरंग है और न ही कोई गति है. सत्ता में प्रकृति ओत-प्रोत है. जब सत्ता व्यापक है- तो इससे सिद्ध होता है कि उसमें गति एवं तरंग नहीं होती। सत्ता न जन्मता है और न ही मरता है. उसका कोई भी साक्षी या प्रमाण नहीं है इसलिए मध्यस्थ है. सत्ता व्यापक है. सत्ता न हो ऐसा कोई स्थान नहीं है क्योंकि जहाँ कहीं भी प्रकृति की स्थिति है वहाँ क्रियाशील है. इससे ~~ज्ञात~~ ज्ञात होता है कि प्रकृति सत्ता से बाहर नहीं है और साथ ही प्रकृति जहां भी है क्रियाशील है इससे ~~ज्ञात~~ ज्ञात होता है कि प्रकृति निरन्तर ऊर्जामय है. यह सत्ता में सम्पृक्त रहने की सौभाग्यमयता है अर्थात् ऊर्जित है. प्रकृति सम, विषम और मध्यस्थ क्रिया है. किन्तु सत्ता मध्यस्थ है. प्रकृति सीमित है. सत्ता असीम है इसलिए सत्ता स्थिति पूर्ण है और प्रकृति स्थिति शील है।

स्थितिपूर्ण का तात्पर्य व्यापकता से है, व्यापकता का तात्पर्य सर्वत्र एक सा विद्यमानता से है. "सत्ता न हो ऐसा कोई स्थान हो इसकी अनुमति नहीं है" प्रकृति की स्थितिशीलता से तात्पर्य अग्रिम परिणाम परिमार्जन संभावना सहित क्रिया से है. संभावना सहित क्रियाशीलता ही स्थितिशीलता है. सत्ता का स्थितिपूर्ण होना ही प्रकृति का सत्ता में समान स्थितिशील का स्थितिपूर्ण में समाना स्वाभाविक है. सत्ता में प्रकृति का समाना ही सत्ता में प्रकृति का सम्पृक्त रहना है. यही सम्पृक्तता अनागय है यही अनुगमनता क्रिया है और क्रिया ही श्रम, गति परिणाम के रूप प्रकाशित है. यही प्रकाशन नियति क्रम को अभिव्यक्त करता है फलतः सत्ता में ओत-प्रोत, प्रेरित प्रकृति उसमें अनुभव करने की क्षमता, योग्यता पात्रता से सम्पन्न होने ~~पर्यन्त~~ पर्यन्त विकासशील है. फलतः परिणाम का अमरत्व (अंतिम परिणाम) श्रम का विश्राम (अंतिम श्रम) गति-गन्तव्य (अंतिम गति) प्रत्यक्ष है. सत्ता मध्यस्थ है इसलिए सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति नियंत्रित एवं संरक्षित है। सत्ता से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम कुछ भी नहीं है. सूक्ष्म स्थूल में प्रविष्ट होता ही है इसी से एक परमाणु में भी सत्ता का प्रवेश सिद्ध होता है. इस प्रकार सत्ता में प्रकृति की सम्पृक्तता प्रमाणित होती है। सत्ता से सूक्ष्म कुछ भी नहीं है. स्थूल में सूक्ष्म समाया हुआ है. आश्लेषण का अर्थ भीतर घुस जाने से है <u>संश्लेषण से तात्पर्य पूर्ण रूप से (चारों तरफ से) ढंक जाने से है</u>. यही सम्पृक्तता प्रकृति का नियंत्रण एवं संरक्षण है क्योंकि सम्पूर्ण प्रकृति सत्ता में ही <u>आश्लेषित एवं संश्लेषित</u> है पाई जाती है-

सापेक्ष शक्तियां संरक्षित एवं नियंत्रित हैं: प्रत्येक परमाणु में पाया जाने वाला मध्यांश (नाभिक) मध्यस्थ क्रिया है इसलिए ~~सम~~ सम, विषमात्मक क्रियायें एवं सापेक्ष शक्तियां नियंत्रित एवं संरक्षित हैं क्योंकि प्रत्येक अवस्था के परमाणु में स्वभाव गति होती है. प्रत्येक आवेशित गति, स्वभाव गति में अवस्थित होने के लिए बाध्य होती हुई देखी जाती है. प्रत्येक आवेशित गति स्वयं से अन्य का आघात, प्रत्याघात का फल होती है. ये ही आवेशित गतियां सापेक्ष शक्ति के नाम से गण्य हैं. आवेशित गति सामान्य (स्वभाव) गति में परिणत होती है; स्वभाव गति की निरन्तरता होती है. स्वभाव गति को बनाए रखने का मूलतत्व मध्यस्थ क्रिया ही है. इसलिए सम, विषमात्मक क्रियायें एवं सापेक्ष शक्तियां नियंत्रित एवं संरक्षित हैं.

<u>आवेशित गति = असहनीयता</u>

स्वभाव गति (सामान्य गति) के साथ अग्रिम विकास की संभावना जुड़ी है. यही प्रत्येक इकाई का संगीत, स्थिरता एवं आश्वस्तता है. संगीत का तात्पर्य संगीयता में विरोध न होने से है. संगीयता का तात्पर्य सह अस्तित्व (वातावरण में विरोध न होने से है) ही है. आश्वस्तता से तात्पर्य अग्रिम विकास की संभावना सुगम हो जाने से है. स्वस्थता का तात्पर्य ~~निश्चयता~~ स्थिरता से है. (<u>स्वभाव गति की स्थिरता ही स्वस्थता है</u>)

अन्तर क्रिया अर्थात क्रिया समूह ही प्रकृति है जो जड़ और चैतन्य के रूप में गण्य है. ~~जड़~~ जड़ प्रकृति ही विकास पूर्वक चैतन्य पद को पाती है. मनुष्य जड़ एवं चैतन्य का संयुक्त रूप है. मनुष्य मूल मूर्त रूप आशा, विचार, इच्छा, संकल्प एवं अनुभूति (चैतन्य क्रिया ही है). चैतन्य क्रिया में ही आशा, विचार, इच्छा, संकल्प एवं अनुभूति की प्रतिष्ठा है

जिसको मनुष्याकार के शरीर के द्वारा (जड़) प्रकाशित करता रहता है. मानवीयता पूर्वक ही मानवीय गुणों की अभिव्यक्ति ही मानव की स्वभाव गति है. मानव मानवीय गुणों तक परिपूर्ण होने तक सुखी नहीं हो सकता है. मनुष्य ही अनुभव के अनन्तर और अधिक अनुभव करने के लिए बाध्य है क्योंकि मनुष्य कर्म करते समय स्वतंत्र और फल भोगते समय परतंत्र होता है. मनुष्य स्वभाव गति के अतिरिक्त कहीं सुखी नहीं रह सकता और न ही विकास कर सकता है. आवेशित गति में मनुष्य सुखी नहीं रह सकता इसी कारण आवेशित गति से स्वभाव गति में ही रहना चाहता है. आवेश के कारण — काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं मात्सर्य हैं. मनुष्य की अन्तर्निहित शक्ति = विज्ञान एवं विवेक

1. सम्मोहनात्मक आवेश = काम - निवारण के लिए विज्ञान. विज्ञान = कालवादी, क्रियावादी, निर्णयवादी ज्ञान ही विज्ञान है.

2. विरोधात्मक आवेश = क्रोध - निवारण के लिए विवेक

क्रिया - प्रत्यक्ष, आगम और अनुमान

निर्णय - कारण, गुण, गणित

काल - भूत, भविष्य वर्तमान

मानव स्वभाव — मानवीय दृष्टि, मानवीय विषय, प्रवृत्ति में आना आवश्यक है.

१९८८० विकास के क्रम में गठनपूर्णता, क्रियापूर्णता एवं आचरण पूर्णता सिद्ध होती है. मनुष्य अपने से कम विकसित प्रकृति के साथ व्यवसाय पूर्वक उपभोग, उपयोग, शोषण एवं पोषण करता है. व्यवसाय से तात्पर्य महत्वाकांक्षा एवं सामान्य आकांक्षा से सम्बंधित वस्तुओं में परिणत करने का प्रयास एवं प्रक्रिया से है. सामान्य आकांक्षा = आहार, आवास एवं अलंकार.

महत्वाकांक्षा — दूरगमन, दूरश्रवण, दूरदर्शन

मनुष्य, मनुष्य के साथ व्यवहार करता है, व्यवहार करने के लिए बाध्य है. अधिक विकसित का लाभ करता है और गौरव करता है. फलतः अधिक विकास के लिए अभ्यास करता है सत्ता में अनुभव से अधिक विकास नहीं है. प्रकृति का रूप, गुण, स्वभाव धर्म का अध्ययन एवं उसके इतिहास विकास के क्रम में मानव, मानव जीवन, मानव जीवन का लक्ष्य एवं मानव जीवन का कार्यक्रम ही सम्पूर्ण अध्ययन है. मानवीयता पर्यंत सामूहिक प्रयास है एवं देव मानवीयता एवं दिव्य मानवीयता पर्यन्त व्यक्तिक प्रयास है.

मानवीयतापूर्ण विषय प्रवृत्तियां - लोकेषणा, पुत्रेषणा, वित्तेषणा.
दृष्टियां — न्यायान्याय, धर्माधर्म, सत्यासत्य
स्वभाव - धीरता, वीरता, उदारता -

ऐसे अध्ययन की शृंखला में यह प्रमाणित होता है कि मनुष्य ही कर्म करते समय स्वतंत्र एवं फल भोगते समय परतंत्र है। इस पृथ्वी पर मानव ही अधिक विकसित इकाई है. उसे विकासपूर्ण होने का अवसर, साधन एवं अधिक विकसित होने के कारण कम विकसित के विकास में सहायक होना उसका प्रधान लक्षण है. गति का पूर्ण होना ही गन्तव्य है. निर्भ्रम अवस्था में ज्ञान एवं दर्शन पूर्ण होता है. तात्पर्य सत्ता में ज्ञान एवं अनुभव प्रकृति को होता, प्रकृति को प्रकृति का दर्शन होता है.

जिसका नित्य सान्निध्य है उसको अनुभव होता है. प्रकृति की सान्निध्यता ही आत्यान्त उपलब्धि है. विकसित प्रकृति अविकसित प्रकृति का दर्शन करती है. अविकसित प्रकृति विकसित प्रकृति का ज्ञान अथवा अनुमान करती है और विकास के लिए अनुभव करती है. ऐसी अविकसित प्रकृति का दर्शन मात्रात्मक, परिमाणात्मक पद्धति से प्रमाणित हुआ है. अनिश्चित गति ही गुण के रूप में प्रमाणित है. अनिश्चित गति ही सापेक्ष शक्ति है.

"नियमितता ही प्रबुद्धता, प्रबुद्धता ही प्रभुता, प्रभुता ही सत्ता है."

नियमितता का तात्पर्य — जो जैसा है उसको वैसा समझने वाली एवं प्रमाणित करने वाली क्षमता. जो का तात्पर्य स्थिति से है. अर्थात जो कुछ भी स्थिति में हो. जो कुछ स्थिति में हो से तात्पर्य सत्ता में प्रकृति की के नित्य सहअस्तित्व से है. इससे अधिक कुछ भी अस्तित्व में नहीं है.

अनित्य प्रकृति से तात्पर्य — प्रस्थापन-विस्थापन से है. इसके अतिरिक्त जो भी अध्ययन होगा वह प्रकृति की आंशिकता के सदर्भ में होगा. प्रत्येक अंश में अध्ययन की दो प्रणालियां हैं —
1. वस्तु स्थिति सत्य (2) वस्तुगत सत्य.
वस्तुस्थिति सत्य से दिशा एवं काल प्रकाशित हुआ है.
वस्तुगत सत्य में रूप गुण, स्वभाव और धर्म का दर्शन है
प्रकृति की सीमा में इससे अधिक कोई अध्ययन नहीं है. विकास (दिशा, काल, रूप, गुण, स्वभाव और धर्म का ही कुल अध्ययन है) विकास एवं ह्रास इन्हीं के मौलिक से सिद्ध होता है.

प्रबुद्धता: — व्यक्तिवाचक एक व्यक्तिवाची अथवा समाजवाची होगी क्योंकि मनुष्य ही नियम अथवा संयम होता है. यह देखी जाती है. अन्य प्रकृति अर्थात जीव प्रकृति में नियमितता की स्थिति नहीं पाई जाती है या प्रकाशित नहीं होती है. इस तथ्य से ज्ञात होता है कि नियमितता के अनुशासिक प्रकृति का विकास, इतिहास, मानव, मानव जीवन, जीवन क्रम, लक्ष्य एवं उसका कार्यक्रम निर्धारित करने योग्य क्षमता ही प्रबुद्धता है. अविरल विकास का बोध होना प्रबुद्धता का स्वभाव है. प्रबुद्धता ही प्रभुता है।

प्रभुता: — का तात्पर्य विभव पर ~~अधिकार~~ अधिकार से है. विभव पर अधिकार का तात्पर्य विभव की निरन्तरता है. विभव की निरन्तरता की ~~अवधार~~ प्रामाणिकता ही जीवन प्रकाशित करता है क्यों कि जीवन नित्य एवं जीवन मृत्यु एक घटना है. ऐसी प्रामाणिकता के अभाव में प्रभुता सिद्ध नहीं होती है

सत्ता → सत्ता का तात्पर्य अस्तित्व से है. प्रकृति अस्तित्वशील है सत्ता अस्तित्वपूर्ण है. इस प्रकार पूर्ण सत्ता, शील सत्ता की सहअस्तित्व सिद्ध हुआ है. अस्तु यह अनन्त है. अनन्त का तात्पर्य जिसका निलम्बीकरण न हो।

सत्ता ही नियम, न्याय, धर्म एवं सत्य है. यही मध्यस्थ एवं सत्ता है. अर्थात ज्ञानसम्पन्नता ही जीवन है. ज्ञानसम्पन्नता के अभाव में जीवन प्रमाणित होना सम्भव नहीं है - यह प्रकृति की विकासपूर्वक सिद्ध सम्पन्नता का द्योतक है. क्योंकि सत्तासम्पन्नता का अभाव प्रकृति की किसी भी अवस्था में नहीं है.

"<u>मनुष्य ही मनुष्य के ह्रास व विकास में प्रधानतः सहायक है</u>" विकास क्रम में अधिक विकसित इकाई कम विकसित इकाई का पोषण या विकास के क्रम में सहायक होगी ह्रास के क्रम में शोषण करेगी.

ज्ञानात् मो विमुच्यते

अनुभव = अनुक्रम से प्राप्त उत्पत्ति (विकास के गुणात्मक परिवर्तन की स्थिति)

11|10|80 <u>उत्पत्ति</u>: — विकास पूर्वक प्राप्त अधिकार. अनुभव ही जीवन का लक्ष्य है.

<u>विचार</u>: - (1) मध्यस्थ दर्शन, सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति के परिणाम के अमरत्व, श्रम के विश्राम, गति के गंतव्य का निभ्रम रूप में निश्चित बोध सुलभ कराता है.

(2) यह (प्रकृति की) उसकी निश्चित प्रक्रिया के आनुषंगिक प्रकृति को इतिहास एवं विकास स्पष्ट करता है.

• (3) मानव की परिभाषा, मानवीयता की व्याख्या, मानव जीवन के कार्यक्रम, मनुष्य के चारों आयाम (व्यवसाय, व्यवहार, विचार, अनुभूति) जीवन की पाँचों स्थितियों (व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्र) में सार्वभौम रूप में उसकी सीमा, कर्तव्य एवं दायित्व निर्धारित होता है - यही सामाजिक अर्थव्यवस्था को प्रमाणित करता है जो स्वयं में विधि और व्यवस्था है. इसी के फलस्वरूप मानव, मानवीय संस्कृति, सभ्यता, विधि एवं व्यवस्था के प्रति प्रतिबद्ध होता है।

फलतः -

(1) प्रत्येक व्यक्ति मानवीयता की सीमा में आचरण करने, अतिमानवीयता की ओर प्रयास करने के लिए बाध्य होता है।

(2) प्रत्येक परिवार मानवीयता की सीमा में सहयोगी बनने, सम्पूर्ण समाज मानवीयता की सीमा में प्रोत्साहन एवं उत्साह प्रदान करने, प्रत्येक राष्ट्र मानवीयता की सीमा में संरक्षण एवं संवर्धन करने तथा अन्तर्राष्ट्र मानवीयता की सीमा में उसके अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करने के लिए बाध्य होता है। इससे सहअस्तित्व सिद्ध हो जाता है। अतः सहअस्तित्व के लिए दर्शन उपयोगी है

मानव - व्यवहार दर्शन -

परस्पर अध्याय - कृतज्ञता :- कृतज्ञता विकास की ओर प्रगति के लिए मौलिक मूल्य है. कृतज्ञता ही स्वतः सेवा एवं सम्मान का आधार है एवं संरक्षक मूल्य है (सेवा, सम्मान का)। "जिस किसी से भी विकास के लिए उन्नति के लिए सहायता मिली हो उसकी स्वीकृति को कृतज्ञता की संज्ञा है -

कृतज्ञता पूर्वक प्रगति (विकास) जो पाना सम्भव है परन्तु कृतघ्नता पूर्वक नहीं पाया जा सकता. सहायता की अस्वीकृति ही कृतघ्नता है. जो कृतज्ञ नहीं है वह किसी प्रकार सहायता पाकर बढ़ने का प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सकता, जो सेवा-सम्मान का वहन नहीं करेगा वह विधि एवं व्यवहार का पालन नहीं करेगा. सेवा, सम्मान विधि एवं व्यवहार परस्पर पूरक हैं. इनके बिना समाज तथा सामाजिकता का निर्धारण सम्भव नहीं है. अतः कृतज्ञता के बिना गौरव, गौरव के बिना सरलता, सरलता के बिना सौजन्यता, सौजन्यता के बिना कृतज्ञता की निरन्तरता नहीं है. सरलता का तात्पर्य सामान्य गति से है. मनुष्य अपनी सामान्य प्रगति में ही सरल कहलाएगा. मनुष्य का मानवीयता से सम्पन्न होना ही उसकी स्वभाव गति है. जो मनुष्य कृतज्ञता को वहन करता है उसका आचरण अग्रिम पीढ़ी के लिये शिक्षाप्रद एवं प्रेरणादायी है. यह मानवीयता की सीमा में ही सफल है -

जो आत्मा की जिज्ञासा

मानव व्यवहार दर्शन का विश्लेषण :- स्थिति पूर्ण - बोधगम्य - व्याख्यान्वित से ही अनुभव है. सत्ता में ही प्रकृति समाई हुई है. सत्ता को ही ज्ञान, आनन्द, चित्र, व्यापक, प्राण, ऊर्जा, निरपेक्ष शक्ति, चिन्मय, जीवन, पूर्ण, लोकेश, चेतना, ईश्वर, परम पुरुष एवं ज्ञानात्मा शब्दों से इंगित किया जाता है. उन्हीं शब्दों से सत्ता को ही इंगित किया जाता है -

मानव :- मनाकार को साकार करने वाला, मन स्वस्थता के आशावादी को मानव कहा है.

मनाकार को साकार करने का तात्पर्य :- आशा, विचार, इच्छा एवं संकल्पानुरूप व्यवहार एवं व्यवसाय करने से है. उक्त एक ही मनुष्य विचार के अभाव में व्यवहार अथवा व्यवसाय करते हुए देखने में नहीं आता है. मनुष्य विचार का ही मूर्त प्रतिरूप है. विचार मन की आंशिक रूप आशा है. इस प्रकार व्यवहार एवं व्यवसाय में अपने मनाकार को साकार करता हुआ देखने में आता है.

(१) व्यवसाय में आकांक्षा द्वारा (सामान्य आकांक्षा एवं महत्वाकांक्षा) सम्बन्धी वस्तु निर्माण के रूप में उपयोगिता एवं कला मूल्य को स्थापित करना प्रमाण सिद्ध है. व्यवसाय में उपयोगिता मूल्य, सुन्दरता मूल्य को स्थापित करते हैं. सृजनशीलता (व्यवसाय) उत्पादन व्यवसाय के अन्तर्गत होता है.

(२) व्यवहार में स्थापित मूल्य एवं शिष्ट मूल्य को प्रकाशित करना यह प्रकाशित होना प्रमाण सिद्ध है. स्थापित मूल्य संख्या में ९ हैं, अनुभूत हैं.

स्थापित मूल्य :- (१) कृतज्ञता (२) गौरव (३) श्रद्धा (४) प्रेम (५) विश्वास (६) वात्सल्य (७) ममता (८) सम्मान (९) स्नेह

इनका अनुभव मनुष्य में होना प्रसिद्ध है -

शिष्टता की अभिव्यक्ति = मूल्य। स्थापित मूल्यों की अनुभूति होती है।

<u>शिष्ट मूल्य</u> स्थापित मूल्य के क्रम से इस प्रकार है - सौम्यता, सरलता, पूज्यता, अनन्यता, सौजन्यता, सहजता, उदारता, अरहस्यता एवं निष्ठा- सम्पूर्ण मानव की शिष्टता नौ स्थापित मूल्यों पर आधारित है। यही समाज रचना का आधार है -

स्थापित-मूल्य — शिष्ट मूल्य
1. कृतज्ञता — सौम्यता
2. गौरव — सरलता
3. श्रद्धा — पूज्यता
4. प्रेम — अनन्यता
5. विश्वास — सौजन्यता
6. वात्सल्य — सहजता
7. ममता — उदारता
8. सम्मान — अरहस्यता
9. स्नेह — निष्ठा

<u>कला मूल्य:</u> — कला मूल्य संस्कृति एवं सभ्यता के क्षेत्र में उत्पादन के क्षेत्र में रूप और उपयोगिता मूल्य के सहयोगी के रूप में दृष्टव्य है। व्यवसाय के आयाम में दोनों ही मूल्यों को स्थापित करते हैं ① उपयोगिता एवं ② कला। इसके पश्चात व्यवहार आयाम में 18 (अठारह) मूल्य स्थापित होते हैं। नौ स्थापित मूल्य + नौ शिष्ट मूल्य = अठारह ③ इस प्रकार मनाकार को साकार करने का तात्पर्य व्यवहार एवं व्यवसाय में प्रकाशित होने से है।

④ <u>मनःस्वस्थता के अभावाद</u>: - से तात्पर्य सुखानुभूति या सुखी होने से है। ऐसी सुखानुभूति व्यावसायिक परिप्रेक्ष्य में <u>अभयता</u> एवं <u>सहअस्तित्व</u> के रूप में दृष्टव्य है। अभयता एवं सहअस्तित्व सामाजिक मूल्यों के निर्वहण से होता है। [स्थापित मूल्य + शिष्ट मूल्य = सामाजिक मूल्य]

भौतिक समृद्धि अधिक उत्पादन कम उपभोग योग्य योग्यता से है। अन्तःकरण का सुख पाँच स्थितियों में गण्य है। सुख, शांति, संतोष आनन्द एवं परमानंद जो क्रमशः मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि एवं आत्मा में अनुभूत तथ्य है [मन = सुख, वृत्ति = शांति, चित्त = संतोष, बुद्धि = आनंद, आत्मा = परमानंद]] इस प्रकार अन्तःकरण में सुख समुच्चय ज्ञातव्य है। ऐसी सुख, शांति, संतोष, आनन्द एवं परमानंद की चरितार्थता क्रम से बौद्धिक समाधान अर्थात मनुष्येतर प्रकृति के सम्बन्ध में अध्ययन एवं व्यवसाय में क्षमता होने मात्र से। मन एवं वृत्ति में होने वाली सुख एवं शांति अनुभूत होती है। व्यवहार में शिष्ट मूल्य की प्रयुक्ति चित्त में संतोषदायी होती है। स्थापित मूल्यानुभूति में बुद्धि में आनन्द एवं आत्मा में परमानंद अनुभूत होता है।

मन स्वस्थता अभावादी = मानव -

परिभाषा से तात्पर्य - यथार्थ स्पष्ट (प्रतिबंधित) होने से है। यथार्थ का तात्पर्य इकाई में समाहित रूप, गुण, स्वभाव एवं धर्म से है।

<u>व्यवहार:</u> — व्यवहार का तात्पर्य एक से अधिक एक दूसरे के प्रति ... जो निर्वाह अथवा श्रम है वही व्यवहार है।

मनुष्य, मनुष्य के साथ व्यवहार करने के लिए बाध्य है, मानव जाति में ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि मनुष्य, मनुष्य के साथ व्यवहार न किया हो व स्वयं अपने को मानवीयता पूर्ण जीवन को प्रकाशित किया हो ऐसा कोई प्रमाण नहीं है इससे यह ज्ञान स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक मनुष्य अबाल, वृद्ध पर्यंत आदान-प्रदान में, के, के लिए नियंत्रित है. नियति का तात्पर्य विकास विहीन निकास की ओर स्पष्ट प्रक्रिया है.

<u>दर्शन</u>: — दर्शक की दृष्टि के द्वारा दृश्य की गई जानकारी ही दर्शन है. देखने की क्षमता विकास के क्रम में प्रस्फुटित हुई है. दर्शक का तात्पर्य इकाई से है. दृष्टि से सम्पन्न इकाई का तात्पर्य ही चैतन्य इकाई से है. चैतन्य इकाई में ही दृष्टियों की क्रियाशीलता पाई जाती है. दृष्टियां छः प्रकार से गण्य है —

① प्रियाप्रिय ② हिताहित ③ लाभालाभ ④ न्यायान्याय ⑤ धर्माधर्म ⑥ सत्यासत्य.

सर्वोच्च विकसित ज्ञानावस्था की इकाई में इन छः दृष्टियों की व्यवस्थित क्रियाशीलता पाई जाती है. जीवावस्था में ही प्रियाप्रिय, हिताहित, लाभालाभ दृष्टियां आंशिक रूप में क्रियाशील पाई जाती है. ज्ञानावस्था की भ्रान्त पशु एवं राक्षस मानव में येही दृष्टियां पूर्णतया क्रियाशील पाई जाती है. ज्ञानावस्था के मानवीयतापूर्ण मनुष्य में न्यायान्याय दृष्टि पूर्णतया क्रियाशील होती है फलत: धर्माधर्म, सत्यासत्य दृष्टि से सम्बद्ध हो जाता है फलत: लाभालाभ हिताहित, प्रियाप्रिय दृष्टि भी संयत हो जाती है अर्थात न्यायान्याय दृष्टि से नियंत्रित हो जाती है. इसका तात्पर्य न्यायपूर्ण अथवा न्याय सम्मत लाभ, हित, प्रिय, प्रक्रिया से है. इस प्रकार दृष्टियां विकास के आनुषंगिक क्रियाशील होना प्रमाणित होता है. अस्तु अमानवीयता की सीमा में मनुष्य सामाजिकता से सम्पन्न होने अथवा शुद्धत: सामाजिक प्राणी होने का प्रमाण नहीं है. इसी सत्यतावश मनुष्य मानवीयता से सम्पन्न होने के लिए नियंत्रित है उसके विरोध में जितने भी प्रयास है वे सब मानव जीवन में भय, यंत्रणा एवं संत्रास के द्योतक है क्योंकि मानवीयता ही मनुष्य में सामान्य जाति का स्वभाव प्रधान लक्षण है.

<u>दृष्टि का</u> तात्पर्य दृश्य और दृष्टि की स्थिति का प्रतिदर्शन करने वाली क्षमता से है. यह वृत्ति में होने वाली प्रक्रिया है. वृत्ति का तात्पर्य ही है दूर-दूर तक फैलने वाली अथवा अनन्त तक फैलने वाली क्रिया. यह क्रिया चैतन्य होने के समय से ही अंकुरित होती है. इसकी साक्षी में प्रत्येक जीव अपनी सीमा से अधिक उदय को देखता है. इसका परिचय यह है कि उससे अधिक क्षेत्र में संचार करता हुआ, विचरण करता हुआ देखा जाता है. मनुष्य जीवन में यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि जो जितना अनुभव करता है उससे अधिक उदय होता है. यह क्रम सहजता की अनुभूति से आरम्भ होकर सत्यता पूर्णता में अनुभूत होते पर्यन्त रहेगा. यही विकास वेत्र अभीष्ट है. इस प्रकार दृष्टियों की क्रियाशीलता — [illegible] के विकास का परिचायक है.

दृष्टि मूलतः चैतन्य इकाई है क्योंकि चैतन्य इकाई में ही आशा, विचार, इच्छा, संकल्प एवं अनुभूति प्रमाणित है।

दृश्य :- दृश्य केवल सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति है, प्रकृति की क्रियाशीलता एवं उसका प्रकाशन स्पष्ट है. यही इस पृथ्वी पर चार अवस्थाओं में गण्य है. यह सम्पूर्ण अथवा ऐसे सभी सम्पूर्ण व्यवस्था की इकाई के लिये दृश्य है.

"फलतः चैतन्य इकाई ही मूल दर्शक है"

मनुष्य के विकास का परिचय ही दर्शन क्षमता है।

विश्लेषण :- वस्तु स्थिति एवं वस्तुगत सत्य के स्पष्ट होने से है।

प्रकृति के विकास के क्रम में मनुष्य भी एक अविकसित प्रकरण एवं पद है. ना काल तथा विकास के क्रम में ही से वह प्रकाश से है. अधिक विकसित कम विकसित का दर्शन करता है. समान विकसित को स्वीकारता है एवं अधिक का ज्ञान एवं अनुभव करता है. अंतिम विकास के लिए अभ्यास करता है. उस क्रम में मनुष्य ही देव मनुष्य एवं दिव्य मनुष्य के रूप में परिलक्षित हो जाना पाया जाता है. मनुष्य, मनुष्य के साथ व्यवहार करने के लिए बाध्य है.

दर्शक की क्षमता योग्यता एवं पात्रता की सीमानुसार ही दृष्टियां सक्रिय हैं। दृष्टि में दृष्टि समाई हुई है, व्यवस्थित है, विश्वास करने योग्य है. व्यवस्थित होने से ही पूर्ण विश्वास होने योग्य क्रम से है जैसे पिता की प्रवृत्ति पुत्र में विश्वास को स्थापित करती है. उसी प्रकार प्रत्येक सम्बन्ध में विश्वास स्थापित है. प्रकृति स्वयं में क्रम है. उसी प्रकार शरीर के प्रत्येक अवयव पुनः इसी प्रकार चैतन्य इकाई के पाँचो भाग में (आशा, विचार, इच्छा, संकल्प एवं अनुभूति) परस्परता में ही विश्वास होने का तात्पर्य है. ऐसी परस्परता चैतन्य इकाई के पाँचों भागों की परस्परता में, चैतन्य इकाई एवं मनुष्य शरीर की परस्परता में, मनुष्य शरीर अपने अवयवों की परस्परता में एवं मनुष्य अनेक मनुष्यों की परस्परता में विश्वास होने की संभावना, अवसर, आवश्यकता एवं अनिवार्यता स्पष्ट है.

10.30 विकास के क्रम में मनुष्य 5 प्रकार से गण्य है।

① पशु मनुष्य ② राक्षस मनुष्य ③ मनुष्य ④ देव मनुष्य ⑤ दिव्य मनुष्य

ज्ञान, मानव को व्यवसाय काल में नियम, व्यवहार काल में न्याय, विचार काल में धर्म एवं अनुभव काल में सत्य के रूप में प्राप्त है. क्योंकि सत्य प्रकृति के लिए प्राप्त वस्तु है. सत्ता से रिक्त-मुक्त प्रकृति नहीं है - सत्ता में ही सम्पूर्ण प्रकृति की स्थितिशीलता है. प्रकृति सत्ता में सम्पृक्त है ही। यही नियतः, सत्य अथवा सत्ता प्रकृति के लिए प्राप्त है नित्य। प्रायः मानव ने परमात्मा (सत्य) को जानने, पहचानने और अनुभव करने का अनवरत प्रयास किया है और करता रहेगा. सत्ता अर्थात् परमात्मा में सम्पूर्ण प्रकृति अनुभव पर्यन्त प्रयास के लिए बाध्य है.

"अनन्त प्रकृति का आधार केवल सत्ता है इसलिये प्रत्येक इकाई अजमेय है" - सम्पूर्ण मानव व्यवहार सीमा को निम्नलिखित तीन रूपों में देखा जा रहा है -

1. अति मानवीयता की सीमा में
2. मानवीयता की सीमा में
3. अमानवीयता की सीमा में

अतिमानवीयता की सीमा में देवमानव तथा दिव्य मानव, मानवीयता की सीमा में मानव तथा अमानवीयता की सीमा में पशु एवं राक्षस मानव की गणना है।

तीनों अवस्थाओं के मनुष्यों में स्वभाव, दृष्टि, विषय, एषणा एवं निवृत्ति के भेद से प्रवृत्ति निवृत्ति की दृष्टियां विषय एषणा एवं निवृत्ति के भेद से प्रवृत्ति निवृत्ति की क्रियाशीलता पाई जाती है। यह दिव्य मानव में दया, कृपा करुणात्मक स्वभाव दृष्टि केवल सत्य विषय केवल परमात्मा है।

देव मानव का स्वभाव धीरता, उदारता एवं दया, दृष्टि धर्माधर्म, सत्यासत्य तथा विषय लोकेषणा है।

मानवीयता पूर्ण मनुष्य का स्वभाव धीरता वीरता उदारता दृष्टि न्यायान्याय धर्माधर्म, सत्यासत्य और विषय पुत्रेषणा वित्तेषणा एवं लोकेषणा है।

अमानवीयता पूर्ण मानव का स्वभाव हीनता, दीनता, क्रूरता दृष्टि प्रियाप्रिय हिताहित लाभालाभ तथा विषय आहार, निद्रा भय मैथुन है। अमानवीयता पूर्ण मनुष्य के स्वभाव में से क्रूरता प्रधान मनुष्य को राक्षस मनुष्य दीनता प्रधान मनुष्य को पशु मानव के नाम से इंगित किया है।

- ज्ञानात्मनोर्विजयते -

- सृष्टि दर्शन -

मानव सृष्टि दर्शन करने की कामना करता है। सृजन, विसर्जन, शोषण एवं पोषण के भेद से सृष्टि दर्शन है।

इकाई + इकाई = सृजन
इकाई – इकाई = विसर्जन
इकाई – अनुकूल इकाई = शोषण
इकाई + अनुकूल इकाई = पोषण

प्रकृति पदार्थ ही है जो क्रियाशील है एवं पदभेद से अर्थ को प्रकट करती है इसलिये पद से तात्पर्य विकास पूर्वक पाई जाने वाली प्रतिष्ठा से है। यह प्रतिष्ठा प्रकाशन से प्रमाणित है। जैसे विकास के क्रम में जो जिस अवस्था में है वही उसका पद है जैसे पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था, ज्ञानावस्था।

ज्ञानावस्था में पांच मानव तथा जीवावस्था में अनेक जातिवाद और प्राणावस्था में अनेक कुलवाद, पदार्थावस्था में अनेक तत्ववाद की प्रतिष्ठा दृष्टव्य है। व्यष्टि और समष्टि कार्य कलाप प्रकट है। सत्ता व्यापक है। सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति ऊर्जामय है। ऊर्जा ही ज्ञान व प्राण है। ईकाई की ज्ञानमयता संवेदना के रूप में तथा प्राणमयता गति के रूप में दृष्टव्य है। सत्ता विलीन स्थान नहीं है इसलिये सत्ता प्रकृति का सह अस्तित्व अनादिकाल से अनन्तकाल तक सिद्ध होता स्पष्ट होता है एवं प्रत्यक्ष है। ऊर्जा के बिना पदार्थ में चेष्टा एवं माध्यम के बिना ऊर्जा का परिचय संभव नहीं है। पूर्णता को जानने के लिये वेदना - संवेदना या सम्यकता को जानने के लिये जो वेदना है वही संवेदना है। वेदना का तात्पर्य (जिज्ञासा, आकांक्षा आशा से है सम्यकता का तात्पर्य पूर्णता। (मनुष्य में क्रिया पूर्णता आचरणपूर्णता) से है। इससे अधिक पूर्णता की संभावना एवं आवश्यकता भी नहीं है।

प्रत्येक पदार्थ अपनी परिमार्जित अवस्था में स्पष्ट है इसलिये ज्ञात होता है कि उसे ऊर्जा प्राप्त है। प्रकृति में ऐसी कोई इकाई या अंश नहीं है जो ऊर्जामय न हो इसी लिये स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृति ऊर्जा में सम्पृक्त है। शून्य और आकाश भी सत्तामय है। सत्ता और प्रकृति कैसी है यह स्पष्ट है कितनी है यह स्पष्ट होना आवश्यक नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य में निर्णय करने का जो ज्ञान है वह कितना है, इसे जानने के लिये समर्थ नहीं है क्योंकि घटना अनन्त एवं ज्ञान अनन्त प्रसिद्ध है। घटना ज्ञान अनन्तता से तात्पर्य यह है कि अस्तित्व की अंशिकता से गणना आरम्भ होता है वह दोनों पद्धति से होता है। दोनों पद्धति का अभिप्राय एक ही है। कि जो कुछ भी अस्तित्व में है उसकी गणना सिद्ध कर दें। इस क्रम में मनुष्य की जो शक्तियां प्रकाशित हुई हैं किसी दूर एवं अन्तराल तक की गणना के अनन्तर उनके ज्ञान को सीमित स्वीकारने के प्रमाण में अनन्त में समाहित कर दिया है। मनुष्य में प्रकाशित होने वाली व्यवहार एवं प्रयोग प्रमाण सीमित होने के कारण या सीमित प्रयोजनार्थ ही होने के कारण सम्पूर्ण या अनन्त अथवा व्यापकता उक्त सीमा में सिद्ध नहीं हुई तथा उसका प्रमाणित होना संभव नहीं है। क्योंकि गुरुमूल्य लघु मूल्य में समाता नहीं है या प्रकाशित नहीं होता है।

सम्पूर्ण प्रयोग की चरमोत्पत्ति प्रकृति की सीमा में पाई जाती है। पाने वाली सम्पूर्ण तत्वों की विवेचना तथा आकांक्षा रूप की सीमा में उपयोगिता को सिद्ध करना और उपयोग प्रणाली को स्थापित करना। आकांक्षा रूप व्यंग में सीमित है इसीलिये इस सीमा में सम्पूर्ण प्रकृति उपयोग में प्रयोजित नहीं हो पाती इसी कारणवश अनन्त की ओर गमित होना पाया जाता है अनन्त को स्वीकारा गया है।

व्यवहार :- ~~व्य~~वहार मनुष्य की परस्परता में सीमित है इसकी चरमोत्कर्ष उपलब्धि सह अस्तित्व है। इसमें स्थिरता को स्थापित करने वाली मूलतत्व स्थापित मूल्य ही है। इन्हीं स्थापित मूल्यों मूल्य सीमित नहीं है या परिणत नहीं हुई। इन व्यवहार की सीमा में सीमित होने वाले तथ्यों से स्पष्ट होता है कि मानव जीवन में प्रकाशित व्यवहार प्रमाण एवं प्रयोग प्रमाण सीमित है। मनुष्य में अनुभव पूर्वक अनन्त प्रमाण ही सर्वोपरि है इसीलिये मानव अनुभव को स्वीकारता है। यही मनुष्य जीवन का सर्वोच्च एवं व्यापक सिद्ध प्रमाण है। इसी के आनुषंगिक व्यवहार एवं प्रयोग प्रमाण होते हैं क्योंकि अनुभव के अभाव में व्यवहार एवं प्रयोग प्रमाण की अपनी प्रतिष्ठा सिद्ध नहीं है। अस्तु मानव जीवन अनुभव मयता में ही प्रबुद्धता एवं प्रभुता को प्रकाशित करता है और प्रमाणित होता है।

निर्णय - प्रमाण सिद्ध करना

4-1080

कारण, गुण गणित से ही समस्त परिप्रेक्ष्य कोष, मनस्व तादात्म, प्रयोजन, प्रक्रिया एवं नियम का निर्धारण होता है। निर्णय पाने के लिये इससे अधिक समर्थ उपाय कुछ भी नहीं है। कारण गुण गणित के द्वारा सत्ता और प्रकृति के मात्रा और विस्तार का निर्णय नहीं हुआ है जबकि प्रकृति स्थित, गति, क्रियाशील है। सत्ता वर्तमान एवं व्यापक है। पदार्थ के संगठन तथा अवस्था भेद से ही एवं सत्ता स्थिति पूर्ण है। पदार्थ की आकृतियाँ हैं। आकृतियों से तात्पर्य उसकी अनेक मात्रा एवं रूप की आकृतियाँ हैं। सीमा से है।

समस्त पदार्थ ठोस, तरल एवं वायु के रूप में उपलब्ध हैं। उक्त तीनों रूप में पाये जाने वाले पदार्थ तत्व यौगिक अथवा मिश्रण के रूप में हैं। यौगिक प्रक्रिया द्वारा रसायनिक एवं भौतिक परिणाम होते हैं। पदार्थ तत्व तथा मिश्रण प्रक्रिया द्वारा केवल भौतिक परिणाम न रसायनिक परिणाम को प्राप्त करता है। स्थिति में न भौतिक परिणाम के लिये प्रत्येक परमाणु वाह्य, विन्यास व्यवस्था के अनुसार ही परिणाम स्थापित है।

जिसमें सामाजिक जटिलता भी है। इकाई रूपी परमाणु
पूर्ण एवं व्यवस्था जब तक नहीं है जब तक गठन पूर्णता नहीं है।
उसके अनन्तर ही क्रिया पूर्णता एवं आचरण पूर्णता की संभावनाएँ हैं।
विकास के क्रम में परमाणु गठन पूर्णता में अमरत्व को, क्रिया-पूर्णता से
निश्चयता को और आचरणपूर्णता से गन्तव्य को पाता है। परमाणु में
महिमाओं के जो आकलित रूप हैं उनके संख्या भेद से परमाणु की
जाति, परिमाण एवं अवस्थाओं का निर्णय होना है। परिणाम शक्ति
... भेद भी होता है। जाति प्रजाति परिणाम से
प्रजाति और वस्तु प्रजाति परिणाम से भौतिक परिणाम
सामाजिक परिणाम और वस्तु प्रजाति परिणाम नहीं। समयातीत सापेक्षा
होता है। इसमें आदिकाल कोई परिणाम
शक्ति और शक्तिविहीन परिमाण नहीं है।
सापेक्षता तथा उनमें नैसर्गिकता है। इकाई के रूप में सापेक्षता
की जो सीमा है वह वस्तु है। इकाई का स्वगत गति से आदिकाल
गतिशीलता ही है जिसका आकलन और आदिकाल शक्तियों के रूप में
प्रकटन है। गति एवं दबावविहीन सापेक्षा शक्ति नहीं है। प्रकृति में
प्रकट होने वाली गति और दबाव सहित समस्त प्रकार की शक्तियाँ
ही सापेक्षा शक्तियाँ हैं।
हाल या भविष्य काल के बिना सापेक्षता सिद्ध नहीं होती
इसीलिये ये दोनों काल पूर्ण नहीं हैं। अतः ये काल विचार नहीं है।
फलस्वरूप दोनों कालों में प्रकृति एवं उसका अंगभूत मनुष्य व्रत नहीं
है। इसीलिये वह इन कालों के अतिरिक्त महत्वपूर्ण क्रिया और
आन्तरिक नियम, न्याय, धर्म एवं सत्य के आधार पर मानव में मानव
के परस्पर स्थापित मूल्यपूर्ण कार्यक्रम को अपने जीवन में पाना चाह
। अतः मनुष्यजाति से न्याय का याचक, धर्म का गोपा, सत्य के
प्रति विश्वासी एवं निष्ठापूर्वक कार्य करने के लिये प्रयासी है।
✓ न्याय न सम है न विषम है। जब मनुष्य अमानवीयता के सीमा
से पार होकर मानवीयता की सीमा में संकुचित होता है तब न्यायपूर्वक
व्यवहार करने की तथा धर्मपूर्वक विचार करने के लिये बाध्य होता है।
स्थापित मनुष्य के स्थापित संबंधों में निहित स्थापित मूल्यः
का मानवीयता पूर्ण पद्धति से निर्वाह करना ही न्याय है। यही सहयोग
है। इसी सहयोगवश सामाजिकता सिद्ध होती है सिद्ध होने से तात्पर्य
प्रमाणित होने से है। फलतः अभयता एवं समृद्धि होती है।
— योग :=> मिलन ही योग है। मिलन के अनन्तर आकांक्षा एवं
... की आकांक्षा में ही प्रेरणा (विकास) एवं प्रतिक्रिया)
पाई जाती है।

प्रेरणा विकास के लिए एवं प्रतिक्रांति ह्रास के लिए सहायक है। अधिमूल्यन की ओर विकास तथा अवमूल्यन की ओर ह्रास है। दीर्घ-परिणाम एवं अपरिणाम की ओर अधिमूल्यन तथा शीघ्र तथा अति शीघ्र परिणाम की ओर अवमूल्यन क्रिया है। सहवास में ही उनमें स्वीकृतियाँ एवं अन्य विकृतियाँ हैं अथवा किसी में सुकृतियाँ और किसी में विकृतियाँ भी पाई जाती हैं। सुकृति ही विकास एवं विकृति ही ह्रास है। इकाइयों का सहवास ही सृष्टि का मूल कारण है। सहवास का अभाव नहीं है क्योंकि इकाइयाँ अनन्त हैं। प्रत्येक इकाई गतिशील है। गति की प्रगति एवं अवगति है, जो उत्थान और पतन की ओर है। पदार्थ राशि के संघर्ष एवं मिश्रण भेद से ही समस्त रस एवं उपरस का प्रसव है। इस पृथ्वी पर प्रकृति चार प्रकार से गण्य है - पदार्थावस्था प्रधानतः चार भागों में दृष्टव्य है। (1) मृद (2) पाषाण (3) मणि एवं (4) धातु

मृद - प्रधानतः उर्वरा, अनुर्वरा, के भेद से।

पाषाण: - कठोर एवं अकठोर के भेद से

मणि — पारदर्शक, अपारदर्शक-पारभासी, किरणस्रावी, किरणग्राही, किरणअग्राही, एवं किरण स्रावी-ग्राही के भेद से तथा

धातु: — कठोर व अकठोर सहित, विद्युत्ग्राही, विद्युतप्रवाहगी भेद सहित, निःकिरण ग्राही निःकिरण स्रावी, [illegible] निःकिरण ग्राही-स्रावी, किरण [illegible] अस्रावी एवं अग्राही के भेद से हैं। निःकिरण, किरण एवं सापेक्ष शक्ति परमाणु के भेद से प्राण व प्राणियों के शोषण-पोषण तथा विकास व ह्रास के लिए उपयोगी तथा सहायक सिद्ध हुआ है। पदार्थ राशि का संगठित रूप ही ग्रहगोल है जो शून्याकर्षण की स्थिति में पाया जाता है। कर्षणाकर्षण एवं [illegible] से मुक्ति ही शून्याकर्षण है। प्रत्येक इकाई शून्याकर्षण की स्थिति में स्वगति में ही प्रतिष्ठित पाई जाती है। [illegible] एवं [illegible] दबाव ही सापेक्षता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। यह तब तक भावी है जब तक इकाई की गठनपूर्णता,

अ/10.80 क्रियापूर्णता एवं आचरणपूर्णता न हो पाए। गठनपूर्णता तभी संभव है जब तक मानवीयता की सीमा में जीवन, जीविका तथा जीवन के कार्यक्रम को स्थापित एवं उसका निर्वाह करने में तथा आचरणपूर्णता तभी संभव है जब अतिमानवीयता पूर्ण स्वभाव अर्जित स्वभाव के रूप में पा लेवें। ये विकास के क्रम में प्रत्यक्ष रूप से पाई जाने वाली अवस्थाएं हैं।

आ।10।80 परमाणु की सीमा में ही ह्रास एवं विकास की गणना परमाणु का ही ह्रास व विकास होता है। गठनपूर्णता के अनन्तर ही कम्पनात्मक गति की अपेक्षा में कम्पनात्मक गति गुणीकृत होकर परमाणु चैतन्य पद में प्रतिष्ठित होता है। यही अमर प्रतिष्ठा प्रस्थापन-विस्थापन द्वन्द्वों से मुक्त है। कम्पनात्मक गति के [illegible] गुणीकृत होने का तात्पर्य संवेदनशीलता का प्रस्फुरित एवं प्रकाशित होने से है। संवेदनशीलता का प्रकाशन होने से है। संवेदनशीलता के प्रकाशन योग्य अर्हता चैतन्य पद पर प्रतिष्ठित होने के पूर्व सुप्त-लुप्त रहता है। क्योंकि जो था नहीं उसका विकास नहीं है। था का तात्पर्य योग, वियोग, संयोग पूर्वक प्रकाशित होने की संभावना से है। संभावना ही अग्रिम [illegible] क्षमता को प्रदान करती है। ग्रहण क्षमता ही अग्रिम पद पर प्रतिष्ठित होने के लिए अनिवार्य रूप में रहना आवश्यक है। इसी स्थिति में अग्रिम पद पर प्रतिष्ठित होना या संक्रमित होना पाया जाता है।

अतः साक्षी है पदार्थावस्था से सम्पूर्ण पदार्थ प्राणावस्था में, प्राणावस्था ~~को~~ के सम्पूर्ण पदार्थ जीवावस्था में, जीवावस्था की सम्पूर्ण इकाईयां ज्ञानावस्था में प्रतिष्ठित नहीं पायी जाती हैं. प्रत्येक इकाई अपनी ~~स्वयं~~ धर्मीयता से आबद्ध रहती है. धर्मीयता विहीन इकाई नहीं है. धर्मीयता ही स्वभाव गुण अथवा अर्जित गुण है. मानव का अर्जित गुण मानवीयता ही है. मानवीयता के बिना मनुष्य के स्वभाव, गुणों का प्रकाशन नहीं होता. अतः साक्षी है मानव का अमानवीयतापूर्वक सामाजिक प्राणी सिद्ध होना संभव नहीं है क्योंकि मानव की जाति विवेचना धर्म पर ही आधारित है. धर्म मानवीयता की सीमा में ही स्वभाव रूप में बरतता जाता है या प्रकाशित होता है. इसी के लिये मानव प्यासा है. इन तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है कि स्वभाव गुणों के आधार पर ही है. अपेक्षाकृत ह्रास और विकास का स्फुरीकरण हुआ है. इस प्रकार मनुष्य में पाई जानेवाली दर्शन क्षमता स्वयं संवेदनशीलता की विशालता को साक्ष्य रूप में प्रस्तुत करता है. संवेदनशीलता ही सर्वोच्च विकास को पाकर ज्ञानावस्था में अनुभव होता है. अनुभव क्षमता ही जीवन की सर्वोच्च प्रमाणिकता है. इससे अधिक कोई प्रमाण नहीं है. यही सत्यता निर्णय रूप में बाध्य करती है कि जीवन में स्वस्थ, आवश्यकता, विश्वस्त होने का एकमात्र शरण मानवीयता ही है -

गठनपूर्णता तक प्रत्येक परमाणु रासायनिक एवं भौतिक परिणाम के लिए बाध्य है.

धनाकर्षण एवं ऋणाकर्षण की अपेक्षा में भार की गठता है. भारभेद से परस्परता, परस्परता भेद से लघुता एवं गुरुत्व, लघुता एवं गुरुत्व भेद से सापेक्ष शक्ति, सापेक्ष शक्ति भेद से क्रिया की गति एवं दबाव, क्रिया की गति और दबाव भेद से पदार्थ के इकाईत्व, इकाईत्व भेद से ह्रास व ~~विक~~ विकास भेद से सापेक्ष शक्तियों का सद्व्यय एवं अपव्यय तथा सद्व्यय एवं अपव्यय भेद से धनाकर्षण एवं ऋणाकर्षण है. ऋण धन एवं शून्य भेद से आकर्षण क्रिया लक्ष्य है. इकाई ऋणाकर्षण की स्थिति में किसी की ~~ओर~~ अकर्षित, या धनाकर्षण की स्थिति में किसी को ओर आकर्षित होती है तथा शून्याकर्षण की स्थिति में स्वगति में प्रतिष्ठित पाई जाती है. स्वभाव गति ही स्वगति है. प्रत्येक चेष्टा में सापेक्ष शक्ति का प्रभाव है अर्थात गति [illegible] होती है. सत्ता में सम्पृक्त न हो ऐसी कोई इकाई नहीं है यही चेष्टा का मूल कारण या ऊर्जा है जिसमें इकाई शून्याकर्षण में भी क्रिया के रूप में प्रत्यक्ष है. शून्याकर्षण आचरण की प्रणाली में स्वभाव के रूप से प्रत्यक्ष है. यही अंतिम विकास है चारों अवस्थाओं में प्रत्येक इकाई में रत, गुण, स्वभाव एवं धर्म प्रत्यक्ष है. यही आशय, लक्ष्य एवं पारिप्रेक्ष्य का आधार है. सापेक्ष शक्ति गुण है, गुण प्रयुक्ति का अधिकार ही स्वभाव है. [illegible] अधिकार अर्जित एवं आगन्तुक भेद से परिलक्षित है. उदय, विलय, प्रलय में ही सापेक्ष शक्तियों की प्रधानता है. पदार्थावस्था में स्वभाव संगठन - विघटन एवं विघटन संगठन भेद से प्राणावस्था में स्वभाव सारक-मारक कारक भेद से जीवावस्था में स्वभाव क्रूर अक्रूर एवं क्रूराक्रूर भेद से ज्ञानावस्था में स्वभाव अमानवीय, मानवीय एवं अतिमानवीयता भेद से. यह क्रम से शान्त, अशान्त एवं विश्रान्ति के भेद से प्रत्यक्ष है।

धारणा ही धर्म है।" जिससे जिसका विलगीकरण न हो वही उसकी धारणा है। पदार्थावस्था में धर्म अस्तित्व के रूप में, प्राणावस्था में अस्तित्व सहित पुष्टि के रूप में, जीवावस्था में धर्म अस्तित्व, पुष्टि सहित आशा के रूप में तथा ज्ञानावस्था में धर्म अस्तित्व पुष्टि, आशा सहित सुख के रूप में प्रत्यक्ष है। यथा मनुष्य जीवन ही सुखी है अन्यथा दुःखी है। मानवीयता धर्म मानवीय स्वभाव-पूर्ण व्यवहार से है। मनुष्य मनुष्य से ही व्यवहार करता है। व्यवहार में ही मानवीयता एवं अमानवीयता प्रकाशित होती है। मानवीयता का अभीष्ट सह-अस्तित्व ही है। सह अस्तित्व का अभीष्ट अभय एवं समृद्धि है। प्रत्येक मनुष्य अभय एवं समृद्धि पूर्ण जीवन को पाना चाहता है उसे पाने में जो कठिनाइयां हैं उसे दूर करने तक ही विकास की दूरी है। यही स्वभाव गुण में प्रतिष्ठित होने में भी दूरी है। प्रत्येक अवरोध (बाधा) अड़चन, कठिनाई की स्थिति में मनुष्य में स्वभावगति होना संभव नहीं है। क्योंकि इन्हीं कारणों वश मनुष्य आवेशित होता पाया जाता है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे अड़चन एवं अवरोध विहीन जीवन व्यवस्था सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक परिप्रेक्ष्य से सम्बद्ध है क्योंकि इन तीनों से सम्बद्ध न हो और मनुष्य के द्वारा कोई कार्यक्रम सम्पन्न होता है ऐसा देखा नहीं जाता है। सम्पूर्ण सांस्कृतिक, साम्प्रदायिक संस्कारों की विविधता के रूप में है जो प्रधानतः जाति, मत, सम्प्रदाय, वर्ग के रूप में दृष्टव्य है। ये ही संस्कार, संस्कृति का आधार है। इसी संस्कार एवं संस्कृति से सभ्यता प्रकाशित होती है। ऐसी सभ्यता अनेक होने के फलस्वरूप ही वर्गों का प्रकरण है। वर्गों का प्रकरण अभिव्यक्त होना मानव का स्वभाव गुण से वंचित होना सिद्ध हुआ। इन प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि वर्ग चेतना के मूल में संस्कार एवं संस्कृति की विविधता ही प्रधान कारण हुआ है। इसके मूल में प्रवेश करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सब भौगोलिक एवं वातावरण के अनुरूप ही आ गया [illegible] उद्गमित है। इनकी मूल भावना को अर्थात् इन सभी संस्कृति एवं संस्कारों की भावना जागृत ही रही है। जैसे प्रत्येक संस्कार, संस्कृति की मूल-सह अस्तित्व अथवा मानवीयता को पाने की दिशा में ही रही है। क्योंकि प्रत्येक सीमित भौगोलिक क्षेत्र एवं वातावरण में स्थित जन समुदाय अपनी परम्परा में बाधा विवाद रहित विहीन जीवन के कार्यक्रम को पाने के क्रम में ही सम्पूर्ण प्रकार से संस्कृति एवं संस्कार को वहन किया है।

वर्तमान बिन्दु में इन सभी प्रकार की संस्कृति एवं सभ्यताएं परस्पर सम्पर्कित होने के लिए बाध्य हो गई हैं। यह घटना उस स्थिति में अर्थात् जिस समय में सीमित भौगोलिक क्षेत्र एवं वातावरण में संस्कार पद्धति पूर्वक संस्कृतियों का प्रभावन स्थापन [illegible] वास्तविकता के मूल में गलती का होना पाया जाता है। इस प्रकार से सिद्ध हो जाता है कि सामयिक परिस्थितियों के अनुरूप उद्गमित सभी संस्कृति, सभ्यता, विधि एवं व्यवस्थाएं मानव में अखण्डता को स्थापित करने में सक्षम नहीं रही हैं। अतः मानव वर्तमान में प्राप्त सार्वभौम शुभ (अर्थात् सम्पूर्ण मानव परस्पर सम्पूर्ण रूप से सम्पर्कित होने का) अवसर को सफल बनाने की दिशा में मानवीय संस्कृति सभ्यता, [illegible] संरक्षण हेतु विधि एवं व्यवस्था का अध्ययन पूर्वक व्यवहारान्वयन ही एक मात्र शरण है।

[illegible] नो विद्यते —

www.madhyasth.org

दर्शन की उपलब्धि:— प्रकृति की शृंखला में वस्तु स्थिति, वस्तुगत एवं स्थिति सत्य अनुस्यूत होता है। स्थिति सत्य व्यापकता के अर्थ में, वस्तुगत सत्य, रूप, गुण, स्वभाव एवं धर्म के अर्थ में, वस्तुस्थिति सत्य, देशकाल एवं दिशा के अर्थ में प्रकाशित है। इस प्रकार प्रकृति में ही दर्शन का आधार स्वरूप एवं उपलब्धि है।

अंश:— प्रत्येक परमाणु गठन पूर्वक ही स्थिति में है। प्रत्येक गठन अंश में अधिक अंशों का रहना आवश्यक है। अंशों का तात्पर्य परमाणु गठन में समाने योग्य आकार, आयतन एवं घन वाली वस्तु से है। यही प्रकृति में सूक्ष्मतम वस्तु है। इसकी स्वभाव गति नहीं होती। ये गठन पूर्वक ही अपनी स्वभाव गति को प्रकाशित करते हैं। गठन रहित अंश अर्थात परमाणु के निर्माण में समाहित न हो ऐसे सभी अंश आवेशित गति में गतिशील रहते हुए देखे जाते हैं। प्रत्येक वस्तु अपनी आवेशित गति, सामान्य गति (स्वभाव गति) में स्थित होने का कारण है। यह एक गठन में ही होता है। ऐसा प्रथम गठन परमाणु ही है। इससे सूक्ष्म गठन कोई नहीं है क्योंकि इसके अभाव में वस्तु की स्वभाव गति स्पष्ट नहीं हुई है।

आश्रित अंशों में ही सम, विषम क्रिया का प्रकाशन है। मध्यांश (नाभ्यांश) में केवल मध्यस्थ क्रिया अर्थात नियंत्रण ही प्रकाशित है। मध्यांश प्रत्येक आश्रित अंशों को संरक्षण एवं नियंत्रण करते हुए गठनपूर्णता की संभावना को बनाए रखता है। गठनपूर्णता के अनन्तर इससे आश्रित सभी अंशों में अपने स्वभावगुणों को व्यवस्थित अथवा प्रकाशित करना आरम्भ करता है। अथवा आश्रित अंश मध्यांश से प्रभावित होने लगते हैं। इस प्रकार से गठन केवल मध्यस्थ क्रिया से ही प्रभावित होते हैं।

प्रत्येक परमाणु में पाये जाने वाले मध्यांश पर उसके आश्रित अंशों के सम, विषमात्मक गति का प्रभाव नहीं पड़ता है अर्थात मध्यांश विषम एवं सम के आचरणों में परिवर्तित नहीं होता। इससे यह ज्ञान स्पष्ट होता है कि अंश जो परमाणु के मध्य में अवस्थित हुआ है उसकी स्थिति स्वयं में मध्यस्थता को सिद्ध करती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सम विषम क्रिया का प्रभाव मध्यस्थ क्रिया पर होता ही नहीं है। साथ ही विकास पूर्वक मध्यस्थ क्रिया के अनुरूप सभी आश्रित अंश आचरित होने के लिए बाध्य हैं। इसी से यह स्पष्ट होता है कि विकास की शृंखला तब तक प्रवाह रूप में पड़ी हुई है जब तक परमाणु के अथवा इकाई के सभी आश्रित अंश उसके अनुरूप आचरण न करें।

ह्रास एवं विकास:— परमाणु में ही ह्रास एवं विकास होता है जिसकी गणना है। एक ह्रास एवं विकास की प्रथम शृंखला गठनपूर्णता तक होकर उसकी स्थिरता अर्थात निरन्तरता स्थापित होती है। गठनपूर्णता की पूर्व स्थिति में ही ह्रास एवं विकास स्पष्ट हुआ है। द्वितीय स्थिति में गठनपूर्णता से आचरण पूर्णता तक परिवर्तन के अर्थ में अर्थात अंश, विन्यास एवं [illegible] में ~~परिवर्तित~~ परिवर्तनशील स्थिर होता है अर्थात उसकी निरन्तरता होती है। ~~[illegible]~~ क्रिया पूर्णता के पूर्व में ही यान्त्रिक स्पष्ट है। क्रिया पूर्णता के अनन्तर आचरण में और परिमार्जन होता है फलतः आचरण पूर्णता होती है तात्पर्य स्वभाव में परिमार्जन हो जाता है। अतः [illegible] परिमार्जनशीलता है।

आचरण में तबतक परिवर्तन आती है, तबतक [illegible] कोणों से सम्पन्न न हो जाय. ऐसी स्थिति मानवीयता में स्थित होने के पूर्व ही देव-पर्यन्त, स्पष्ट हुआ. इसप्रकार ह्रास एवं विकास ही आचरण उपलब्धि एवं प्रक्रिया तीन स्थितियों में विश्लेषित हुई है और विकास के क्रम में जाति, प्रक्रिया, उपलब्धि एवं स्थिति रूप में स्पष्ट हो जाती है। उन्हीं मान्यताओं के आधार पर मनुष्य की प्रतिष्ठा, मानवीयता की व्याख्या सम्पन्न हुई है जो स्वयं मानव अतिमानवीयता पूर्ण जीवन के चरित्र को सार्वभौमिक रूप में अर्थात व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र एवं अन्तर्राष्ट्र के जीवन में प्रस्थापित करती है जो व्यापक और निरन्तरता की संभावना है-

(ह्रास एवं विकास-गठनपूर्णता तक, अंशों में, क्रियापूर्णता तक विचारों में एवं आचरणपूर्णता तक स्वभाव में या व्यवहार में ही संभव है) परमाणु में होने वाले ह्रास एवं विकास का उदाहरण अंशों के ह्रास एवं विकास के माध्यम से होता है. परमाणु में १२२ (अंशों का) प्रमाण - आत्मा-२, बुद्धि-८, चित्त-१६ एवं वृत्ति-३२ एवं मन-६४ = १२२ आचरण है।

दर्शन के लिये मार्गदर्शक बिन्दु:—

1. सत्ता में प्रकृति की संपृक्तता का ज्ञान होना.
2. अनन्त इकाईयों के समूह के रूप में प्रकृति का ज्ञान होना
3. प्रकृति की मूल इकाई के रूप में परमाणु का ज्ञान होना
4. परमाणु के स्तर में ही ह्रास और विकास के होने का ज्ञान होना. गठनपूर्णता, क्रियापूर्णता एवं आचरणपूर्णता का परमाणु में [illegible]
5. विकास के क्रम में प्रकृति की चार अवस्थाओं का ज्ञान होना
6. अवस्था चतुष्टय में से ज्ञानावस्था में तात्विक का ज्ञान होना (अमानवीयता, मानवीयता अतिमानवीयता एवं (दिव्य मानवीयता)
8. तात्विक की स्थिति में पंच मानवों का ज्ञान (पशु, राक्षस, मानव, देव एवं दिव्य मानव)
9. पंच मानवों में से मानव की मानवीयता, मानवीयता की व्याख्या का ज्ञान होना. उसमें स्वतन्त्र होना. [illegible] मानवीयता के अनुरूप प्रकाशित होने के लिए आरम्भ होने से है.
10. - स्थापित मूल्य और शिष्ट मूल्य एवं व्यवहार मूल्यों का निर्भ्रम ज्ञान होना
11. सहअस्तित्व क्रिया, सहअस्तित्व [illegible] एवं सहअस्तित्व [illegible] का ज्ञान होना
12. चैतन्य प्रकृति का निर्भ्रम ज्ञान होना.
13. मनुष्य जीवन में जड़ और चैतन्य की संयुक्त स्थिति का ज्ञान होना
14. जीवन नित्य, जन्म-मृत्यु एक घटना का स्पष्ट ज्ञान होना.
15. आत्मा की अमरता, शरीर की नश्वरता एवं व्यवहार के नियमों का ज्ञान होना
16. मनुष्य जीवन के चारों आयामों की, पांचों अवस्थाओं (स्थितियों) का स्पष्ट एवं विश्लेषित ज्ञान होना.
17. चारों आयामों की एकात्मकता, पांचों स्थितियों की एकसूत्रता का ज्ञान होना.
18. पांचों स्थितियों में दायित्व एवं कर्तव्य का ज्ञान होना एवं निर्वाह होना.
19. मानव सही में एक, गलती में अनेक होने का ज्ञान होना
20. मानवीय संस्कृति, सभ्यता, विधि एवं व्यवस्था का ज्ञान होना
21. मानव जाति एक, धर्म अनेक का ज्ञान होना.
22. मानव धर्म एक, मत अनेक
23. ईश्वर एक, देवता अनेक
भूमि एक, राष्ट्र अनेक.
25. [illegible] (सत्ता) व्यापक - आत्मा अनेक
26. [illegible] शाश्वत का ज्ञान होना.

२७. चारों आयामों की पारस्परिकता का ज्ञान होना
२८. पांचों स्थितियों में सहअस्तित्व का ज्ञान होना.
२९. भौतिक समृद्धि एवं बौद्धिक समाधान का ज्ञान होना.
३०. श्रम नियोजन एवं श्रम विनिमय पद्धति का ज्ञान होना.
३१. स्थापित मूल्यों का अनुभव होना ही अनुभवात्मक अध्यात्मवाद है.
३२. समाधानात्मक भौतिकवाद का ज्ञान होना
३३. व्यवहारात्मक जनवाद का ज्ञान होना
३४. अनुभवात्मक अध्यात्मवाद का ज्ञान होना
३५. जीने दो और जियो का ज्ञान होना.
३६. जाने हुए को मान लो, माने हुए को जान लो का ज्ञान होना.
३७. प्रमाण त्रय एवं प्रमाणिकता होना.

— ज्ञानात्मनो विद्यते —

स्व अस्तित्व के प्रति सम्मोहन ही अहंकार, उसका विशालीकरण अथवा फैलते जाना ही ही अहंकार के लिये समाधान है उसे दबाना या मारना संभव ही नहीं है। "मैं" का भ्रमित होना ही अहंकार है. निर्भ्रम अवस्था में "मैं" आत्मा है। "बुद्धि ही भ्रमित हो सकती है, निर्भ्रमित हो सकती है आत्मा नहीं।"

— "विज्ञानात्मनो विद्यते तत्त्वम्"

12/६/० शीर्षक: — ज्ञानावस्था में ही निर्भ्रमिता की संभावना है

न्यायानुगामी जीवन ही सुखी है. जिसमें ही मनुष्य न्याय का याचक है. न्यायानुगामी क्षमता ही न्याय पाने का अधिकार सिद्ध करते हैं. न्याय का आधार सामाजिक मूल्य ही हैं. सामाजिक मूल्यानुभूति क्षमता ही न्यायानुगमन को प्रकाशित करती है. मनुष्य के जीवन में अनुभव ही सर्वोच्च प्रमाण है. प्रमाणिकता जीवन का परम एवं उद्देश्य है. प्रमाणिकता ही न्यायानुगमन प्रत्यक्ष रूप ही प्रत्येक मनुष्य में प्रमाणित होना चाहता है. प्रमाणिकता का परिचय मनुष्य के परस्पर व्यवहार में सिद्ध होता है न कि व्यवसाय में. यह निर्दिष्ट जीवन के अन्तराल एवं गरिमा को इंगित कराती है. मानव के सत्ता जीवन में ही प्रमाणिकता पूर्ण जीवन में ही 'सह-अस्तित्व' सफल होता है यही चरितार्थ होता है. सहअस्तित्व सामाजिकता का परम एवं लक्ष्य है.

न्यायानुगामी जीवन जीने की क्रम एवं जीवन का कार्यक्रम ही मनुष्य में परस्पर समाधानात्मक एकता को स्थापित करता है। समाधानात्मक एकता ही सहअस्तित्व की आधार तथ्य है. सहअस्तित्व विहीन स्थिति में सामाजिकता सिद्ध नहीं होती। अन्यायपूर्ण जीवन पद्धति की अन्ततोगत्वा सामाजिक वैविध्यता फलतः सामाजिक विषमता को प्रकाशित करती है. परिणामतः परस्पर मनुष्य में आतंक, भय, अस्तित्व के अविश्वास होता है जिसका दर्शन ही है युद्ध पूजा. जबकि युद्ध मनुष्य के हित साधन करना तथा विकास के सहायक सिद्ध नहीं हुआ है।

मनुष्य जन्मतः हिंसक नहीं है. संस्कारों से ही वह हिंसक होता है. मनुष्य में संस्कारों को वातावरण एवं परम्परा ही स्थापित करती है जो स्पष्ट है. मनुष्य में मनुष्य की ही परम्परा एवं मनुष्य से ही निर्मित वातावरण संस्कार का प्रधान कारण होता है. इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक वातावरण में वर्तमान में इस धरती पर जितने भी मनुष्य हैं, जैसे भी हैं वे उनसे पूर्ववर्ती परम्परा एवं मनुष्यकृत वातावरण से संस्कृत हैं. पुनः वे परम्परा एवं वातावरणकारी सिद्ध हो जाते हैं। परम्परा में ही आचार एवं व्यवहार प्रकाशित होता है. प्रत्येक परम्परा के मूल में संस्कार सम्बद्ध विचार होना पाया जाता है. इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य परम्परा से सम्बद्ध पूर्व धारणाओं सहित आचरण एवं व्यवहार में प्रवृत्त पाया जाता है. पूर्व धारणाओं की वैविध्यता ही समझदारी की वैविध्यता है. समझदारी की वैविध्यता ही संस्कारों की वैविध्यता है. संस्कारों की वैविध्यता ही परम्पराओं की वैविध्यता है. परम्परा की वैविध्यता ही समझदारी की वैविध्यता है. इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य पूर्व धारणावश ही सम्पता को प्रकाशित करता है. पूर्व धारणायें जब तक वैविध्यता सहित रहेंगी तब तक सम्पता में एकता को पाना संभव नहीं है. संस्कार की एकता मनुष्य में मानवीयता की सीमा में समान हो जाती है. मानव की स्वभावगति ही मानवीय सभ्यता है. मानवीयता ही मानव में स्वभाव को स्थिरता प्रदान करती है. अमानवीयतापूर्ण स्वभाव मनुष्य की में स्वभाव की स्थिरता प्रदान करने में असमर्थ रही है यही वैविध्यता का कारण है. मनुष्य परस्परता में ही सभ्यतापूर्वक एकता को प्राप्त करता है जो स्वभावतः सह अस्तित्व है. अतः जीवन की सफलता केवल मानवीयतापूर्वक ही सिद्ध होती है. अतः मानवीय संस्कारग्रस्त होने के लिये मानव का तत्पर, प्रयासी, अभ्यासी होना आवश्यक है.

"ज्ञानावस्था में ही निर्भ्रमता की संभावना है" — अर्थात मनुष्य में ही निर्भ्रमता की संभावना पाई जाती है क्योंकि मनुष्य में विपर्यात्मक क्षमता किसी न किसी अंश में पाई जाती है. यही क्षमता विकसित होकर विज्ञान एवं विवेक के रूप में प्रस्फुटित होती है. विमर्ष दुःख से मुक्ति के संदर्भ में अंकुरित होता है. यही विमर्ष बौद्धिक समाधान एवं भौतिक समृद्धि में रूपान्तरित होता है" भौतिक समृद्धि एवं बौद्धिक समाधान के बिना मनुष्य सुखी नहीं है" — बौद्धिक समाधान में मनुष्य का स्वभाव से

मानवीयता पूर्ण होना अनिवार्य है क्योंकि प्रत्येक इकाई अपने स्वभाव को स्वाभावगति से ही प्रकाशित करती है. स्वभाव-गति की प्रतिष्ठा स्वभाव पर ही निर्भर है. किसी भी इकाई में आवेशित गति पूर्वक स्वभाव की अभिव्यक्ति नहीं होती है अपितु आगन्तुक गुणों का प्रकाशन होता है. इस तथ्य से यह विदित होता है कि मनुष्य की स्वभाव गति मानवीयता पूर्ण ही होती है. अमानवीयता पूर्ण गति अर्थात आचरण आवेशित गति सिद्ध होती है क्योंकि अमानवीयता की सीमा में मनुष्य का सुखी होना सम्भव नहीं है. इसके साक्ष्य में अमानवीयता की सीमा में भौतिक समृद्धि एवं बौद्धिक समाधान सिद्ध नहीं होता है।

भौतिकता की प्रचुरता समृद्धि का द्योतक नहीं है. जब तक अपव्यय एवं संग्रह की संभावना है तब तक समृद्धि नहीं है क्योंकि प्रत्येक अपव्यय के लिये किया गया संचय सीमित सुरक्षा में प्रवृत्ति के लिये पूर्व नियोजित होता है. अमानवीयता की सीमा में अपव्यय का अभाव नहीं है. अपव्ययता पूर्वक बौद्धिक समाधान को पाना संभव नहीं है. इस प्रकार मनुष्य अमानवीयता की सीमा में भौतिक समृद्धि और बौद्धिक समाधान को पाना सिद्ध नहीं होता है. क्योंकि वह केवल मनुष्य का स्वभाव, गुण व गति नहीं है. मनुष्य का स्वभाव गुण व गति केवल मानवीयता ही है- यही बौद्धिक समाधान और भौतिक समृद्धि को प्रकाशित करती है.

अति मानवीयता पूर्ण मनुष्य की [देव और दिव्य मानवी] मानवीयता की सीमा में ही व्यवहार को प्रकाशित करते हैं. मानवीयता से अधिक व्यवहार का प्रकाशन नहीं है. सम्पूर्ण आचरण (मानवीयता एवं अतिमानवीयता पूर्ण आचरण) प्रकाशन में अनवरत मानवीयता का ही त्राण एवं प्राण है. मनुष्य की आद्यन्त सिद्धि प्रकाशन में मानवीयता, अनुभव में दिव्य मानवीयता है. ऐसी सिद्धि को पाने के लिये मनुष्य में तृषा पाई जाती है। यही तृषा अनुभववादी ज्ञानवादी एवं समाधानवादी प्रमाणिकता को सिद्ध करने के लिये बाध्य है क्योंकि प्रमाणिकता ही स्वयं में, से, के, लिये समाधान, सुख, शांति, संतोष एवं आनन्द है.

2.10.80 अक्रूरता तक परिणाम (प्रस्थापन एवं विस्थापन क्रिया) क्रिया पूर्वक प्रवृत्तियों में परिवर्तन

आचरण पूर्णता तक स्वभाव में परिमार्जन होना पाया जाता है.

गठनपूर्णता परमाणु के स्तर में होती है. परमाणुओं में गतिशीलता एवं क्रियाशीलता के फलस्वरूप इन में प्रस्थापन एवं विस्थापन होना प्रसिद्ध है. इसी प्रक्रिया के फलस्वरूप रासायनिक परिवर्तन पाया जाता है. इसी से अनुषंगिक परमाणु में जितने अंश समाने की संभावना है वह सब समाते ही वह परमाणु तत्काल चैतन्य हो जाता है जिसके फलस्वरूप उसमें वर्तुलात्मक गति की अपेक्षा में कम्पनात्मक गति का अधिक होना और साथ ही आशा का प्रकाशन होना होता है - यही जीवन-आरम्भ स्थलीय है - आशानुरूपी जीवन क्रम से विकसित होकर विचारानुरूप, इच्छानुरूप, संकल्पानुरूप एवं अनुभवानुरूप जीवन को पाने की दिशा में संघर्ष, प्रयास, प्रयोगरत होना प्रसिद्ध है.

आशानुरूपी जीवन यापन की प्रक्रियायें जीवावस्था की सृष्टि में स्पष्ट हैं. यह जीवन आशानुरूप जीने की संघर्षमयता में व्यस्त पाया जाता है. जीवावस्था में प्रधानतः मन सक्रिय होता है. अन्य अर्थात विचार, इच्छा, संकल्प, क्रमशः कम सक्रिय होता है. जब आशा परिमार्जन पूर्वक ज्ञानावस्था की स्थिति को पा लेता है तब विचार सक्रिय हो जाता है. भ्रान्त मानव में भी विचारों की सक्रियता पाई जाती है - इस अवस्था में इच्छा और संकल्प क्रमशः कम प्रभावशील रहते हैं, जिसके फलस्वरूप पुनः परिमार्जन के लिए बाध्यता निर्मित होती है. यह बाध्यता दो प्रकार से गण्य है.

(1) वाह्य व्यवहार में असामाजिकता के फलस्वरूप

(2) अन्तःकरण में आशा, विचार, इच्छा, संकल्प के विरोधाभास स्वरूप अज्ञात को ज्ञात करने की अनिवार्यता सिद्ध होती है. इसी के फलस्वरूप मनुष्य और परिमार्जन हेतु अनुसंधान या अध्ययन करता है. तदनुसार आचरण करता है. इसी क्रम से व्यवहार आयाम में सह-अस्तित्व, व्यवसाय आयाम में समृद्धि, विचार आयाम में समाधान, अनुभव आयाम में सत्य अर्थात परमानन्द से परिपूर्ण होता है. ऐसी स्थिति को जीवनगत करते तक परिमार्जन का अभाव नहीं है. यह क्रमशः क्रियापूर्णता, आचरणपूर्णता की सीमा में प्रकाशित होता है.

क्रियापूर्णता में ही सामाजिकता की अभिव्यक्ति है. जीवन के क्रिया-कलाप व्यवसाय एवं व्यवहार में प्रकाशित होते हैं. व्यवसाय की चरम उपलब्धि समृद्धि, व्यवहार की चरम उपलब्धि सह-अस्तित्व है. सह-अस्तित्व के अभाव में असंख्य विपुल साधन भी समृद्धि का सुख अथवा तृप्ति प्रदान करने में सहायक नहीं होते हैं. इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सह-अस्तित्व की स्थिति में ही समृद्धि का अनुभव कर पाना मनुष्य के लिए सम्भव है अन्यथा असंभव है क्योंकि

असह अस्तित्व का परिणाम क्रम से द्रोह; सशंकता, भय, विद्रोह और युद्ध है. यद्यपि युद्ध मनुष्य की वांछित घटना या विकास में सहायक नहीं है इससे स्वतः स्पष्ट होता है कि युद्धाभिमुखी इतने भी प्रयास हैं. आवश्यकता या स्थितियां हैं. पर्यंत मनुष्य सामाजिक होने का प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर पाता है. प्रकृति में सह अस्तित्व का प्रावधान है क्योंकि सत्ता में प्रकृति का नित्य सह अस्तित्व है. परस्पर प्रकृति में सह-अस्तित्व ज्ञानावस्था में ही प्रकाशित होता है इसके पूर्व सह-अस्तित्व की अभिलाषा, प्रयास दृष्टव्य है. ऐसे सह अस्तित्व को सर्वप्रथम अपनी सजातीयता की सीमा में कसना ही मनुष्य के लिए एक मात्र कसौटी है. सजातीयता में जब तक मनुष्य सह-अस्तित्व योग्य क्षमता को उपार्जित नहीं करेगा तब तक अन्य प्रकृति (जीव, वनस्पति एवं खनिज प्रकृति) का सदुपयोग नहीं करेगा फलतः उसका सह अस्तित्व सिद्ध नहीं होगा. मनुष्य में यह निर्दिष्ट ज्ञापन है कि जो जिसका अपव्यय करेगा वह उससे वंचित हो जाएगा. मनुष्य में अपव्यय अथवा सद्व्यय करने की पाँच विभूतियां प्रसिद्ध हैं:

"बल, रूप, पद, धन, बुद्धि" जिसकी वरीयता क्रम से रूप, बल, धन, पद एवं बुद्धि है. बुद्धि के अभाव में अन्य चारों की ख्याति नहीं है. इस प्रमाण से स्पष्ट होता है कि ये सब बुद्धि से अनुरंजित हो कर ही ख्यात एवं विख्यात होते हैं. अस्तु मनुष्य जीवन में ही आशा, विचार, इच्छा, संकल्प का क्रियाशील होना साथ ही अनुभव मूलक पद्धति से अनुशासित होना पाया जाता है. अनुभव केवल सत्य में, से, के लिए ही है. सत्य से अतिरिक्त स्थिति नहीं है. स्थिति से अतिरिक्त अनुभूति नहीं है. इस प्रकार मनुष्य में सह-अस्तित्व पूर्ण होने की संभावना स्पष्ट है.

"ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः"

0

3/12/80 "प्रकृति सत्ता में सम्पृक्त ज्ञानानुरंजित तथा सत्ता में अनुभूत अवस्था में पाई जाती है"

प्रकृति गठन पूर्णता पर्यंत अर्थात रासायनिक एवं भौतिक परिणाम पर्यंत सत्ता में सम्पृक्त अस्तित्व में प्रमाणित है क्योंकि प्रकृति के किसी अंश का तिरोभाव होते हुए अथवा प्रकृति में किसी अंश की वृद्धि होते हुए दिखाई नहीं पड़ती है उसका तात्पर्य है कि प्रकृति

न घटती है न बढ़ती है. जो कुछ भी प्रकृति है उसका ह्रास और विकास ही उसमें विविधता का आद्यन्त कारण है. सत्ता में सम्पृक्तता ही प्रकृति में प्रेरणामयता एवं उसकी अभिभूतता है. प्रकृति का प्रेरणा में अभिभूत होना ही क्रियाशीलता है. यही प्रेरणा गठन-पूर्णता तक क्रियाशीलता की स्थिति में प्रत्यक्ष है. यही गठन-पूर्णता तक सम्पृक्त रहने का तात्पर्य है यह स्पष्टीकरण है.

गठन पूर्णता के अनन्तर जीवन-स्थापना अथवा आरम्भ होता है. जीवन की गणना चैतन्य क्रिया में ही गण्य होती है. इसके पूर्व क्रिया की गणना है. गठनपूर्णता के अनन्तर सम्पूर्ण क्रिया कलाप को जीवनी क्रम अथवा जीवन के कार्यक्रम से सम्बद्ध रहता है. यही गठन पूर्णता के अनन्तर पाई जानेवाली विशेषता है. यह विशेषता अनवरत रूप में पाई जाती है.

जब क्रियापूर्णता हो जाती है तब आचरण पूर्णता की पटल शुरू होती है. सत्ता ही गठनपूर्णता के अनन्तर चैतन्य क्रिया में भासने लगती है जिसको सामान्य ज्ञान से जाना जाता है. सामान्य ज्ञान का तात्पर्य है ज्ञान भासने से. अनुभूति क्रम से भास, आभास, प्रतीति के अनन्तर होता है जो प्रसिद्ध है. यह प्रकृति में विकासपूर्वक पाई जानेवाली क्षमता का द्योतक है क्योंकि सत्ता का अथवा ज्ञान का होना या न होना सिद्ध नहीं होता है क्योंकि सत्ता मात्र नित्य अस्तित्व मय है. सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति नित्य होते हुए अथवा नित्य अस्तित्व पद में होते हुए विकास की बाध्यतावश उसमें क्षमता योग्यता और पात्रता की वैविध्यता पाई जाती है क्योंकि प्रकृति अनेक इकाईयों के रूप में स्थित है. इसी तथ्यतावश प्रकृति क्रम से गठनपूर्णता, क्रियापूर्णता, आचरणपूर्णता के पद में प्रतिष्ठित है जो द्रष्टव्य है. अस्तु क्रियापूर्णता पर्यन्त ज्ञान, भास, आभास एवं प्रतीति होती है. यही सत्ता में अनुरंजित होने का तात्पर्य है. प्रकृति ही क्रियापूर्णता के अनन्तर आचरणपूर्णता के लिए बाध्य होता है. यही गन्तव्य भी है. सम्पूर्ण क्रिया में पाए जाने वाले श्रम, गति, परिणाम क्रम से विश्राम, अमरत्व एवं गंतव्य की गम्यता में व्यस्त पाया जाता है. यही व्यस्तता सर्वार्थ प्रयास, प्रयोग एवं अनुसंधान के रूप में स्पष्ट है. जबकि क्रियापूर्णता होती है तब मनुष्य में सामाजिकता परिपूर्ण प्रकाशित होता है जिसकी अनुभूति सतर्कता की पूर्णता है जो अभय है. अभय प्रत्येक मनुष्य की वांछित उपलब्धि है.

अभयता के लिए ही मनुष्य सामाजिक होना स्वीकारता है। सम्पूर्ण कोशों के मूल में भय का होना आवश्यक है. यही भय प्रधानतः तीन रूपों में वर्णित हुआ है.

(i) प्राकृतिक भय (ii) पशु भय (iii) मनुष्य में निहित अमानवीयता का भय. इसके अतिरिक्त यदि कोई भय भीत होता है तो वह केवल भ्रमवश हो सकता है जैसे रज्जू-सर्प! इस प्रकार मनुष्य मानव में निहित अमानवीयता के भय से जब मुक्त होगा तभी सामाजिकता से परिपूर्ण होगा. जबकि परस्पर व्यक्ति, परिवार एवं वर्ग संघर्ष भी भय से मुक्ति पाने के लक्ष्य से रहित नहीं है.

इससे स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य जीवन में ही होने वाली क्रिया पूर्णता क्रम से जीवन की अनिवार्य एवं परम उपलब्धि है सामाजिक मनुष्य के लिए एक अनिवार्य तथ्य है। यह वर्ग सीमा से मुक्त मानवीय चेतना से मुक्त होने पर ही सिद्ध होता है। सामाजिकता के बिना मानव भय से मुक्त नहीं है। इसका प्रत्यक्ष साक्ष्य युद्ध प्रवृत्ति है। सामाजिकता के अनन्तर ही यह अस्तित्व सिद्ध होता है जिससे यह स्वतः [illegible] प्रवृत्ति प्रभाव एवं प्रक्रिया की निरर्थकता सिद्ध होती है मनुष्य-मनुष्य से ही युद्ध करता है। मनुष्येतर प्रकृति को नियंत्रित करता है। मनुष्येतर प्रकृति के क्रूरता पूर्ण व्यापार को मनुष्य अपने क्रूरता पूर्वक या साहस पूर्वक ही दमन करता है अथवा नियंत्रित करता है। मनुष्य पर मनुष्य के साथ सिद्ध नहीं हुआ है - मनुष्य ने सर्वप्रथम प्राकृतिक भय एवं जीव भय से मुक्ति पाने के लिए अनेक क्रूर कठोर एवं हिंसक उपायों का आविष्कार किया है। इन्हीं उपायों का मनुष्य पर भी उपयोग किया जिसके मूल में परिवार या वर्ग के अस्तित्व को बनाए रखना ही मूल लक्ष्य रहा है. जबकि सामाजिकता को समृद्ध बनाए रखना ही मानव की आद्यन्त चारितार्थता है. यह क्रिया पूर्णता की स्थिति में ही सफल होता है. क्रिया पूर्णता की पुष्टता ही आचरण पूर्णता के लिए बाध्यता है. स्वभाव गुण के अनन्तर ही उससे उच्च स्वभाव गुण के सम्बन्ध में बाध्यता उत्पन्न होती पाई जाती है. स्वभाव गुण, स्वभाव गति में ही प्रकाशित होता है. मनुष्य का स्वभाव गुण मानवीयता. पूर्ण गति में ही प्रकाशित है अर्थात मानव की स्वभाव गति मानवीयता के रूप में प्रकाशित है या

या मानवीयता ही है. इस प्रकार मानव, मानवीयता से
परिपूर्ण होने के अनन्तर ही मानव, देव मानव और
दिव्य मानव पद को पाने की संभावना एवं दिशा स्पष्ट हो
जाती है. फलत: मनुष्य अभ्यास शील, प्रयासशील हो
जाता है. अभ्यास और प्रयास ही मनुष्य में गुणात्मक
परिवर्तन को स्थापित करता है. किंवा चैतन्य प्रकृति
में गुणात्मक परिवर्तन का यही क्रम है. इस क्रम से मनुष्य
आचरणपूर्णता के अधिकार को प्राप्त कर लेता है. यही
चरम एवं परम उपलब्धि है अथवा इस अवस्था के
विकास पर्यन्त क्रम श्रृंखला में कोई रहस्य नहीं है.
इससे यह सिद्ध हो जाता है कि आचरण पूर्णता में ही
ज्ञानमयता में अनुभव होता है. प्रकृति का परमोत्कर्ष
विकास यही है. यही प्रकृति का गम्य स्थान है—

ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति:

(4-12-80)

(पृष्ठ 19) दूसरा वाक्य सूत्र

4-10-80

"सम्पूर्ण चैतन्य साधन का उत्कर्ष (क्षमता) उसकी गति और व्यंजना का योग है"—

चैतन्य साधन मनुष्य के द्वारा निपुणता, कुशलता और पांडित्य के रूप में प्रकाशित होता है. यह प्रकाशन चैतन्य इकाई की क्षमता, योग्यता, पात्रता को प्रमाणित करता है. यही जीवन की प्रामाणिकता है. संवेदनशीलतावश ही मानव में प्रामाणिकता की अनिवार्यता सिद्ध होती है. संवेदनशीलता (सम्यकता) मूलत: 'माँ' के प्रति तृषा है, 'पूर्णता' की आशा, आकांक्षा या इच्छा किसी न किसी अंश में अथवा पूर्ण रूपेण मनुष्य में होनी पाई जाती है. मनुष्य जीवन में पूर्णता की संभावना क्रियापूर्णता एवं आचरणपूर्णता ही है जो वास्तविकता है. इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्णता के प्रति तृषित होना मनुष्य के जीवनी क्रम के अन्तर्गत स्वाभाविक अंकुर है यही तृषा, गति से पूर्ण होना चाहती है. संवेदना में गति और व्यंजना को पाया जाता है. कंपनात्मक गति ही व्यंजना की प्रधान एवं मूल प्रक्रिया है. वर्तुलात्मक गति उसकी व्यवहारिकता को प्रकाशित करती है. मूलत: कंपनात्मक गति भी गति होते हुए व्यंजनीयता के साथ वर्तुलात्मक गति का संतुलित योग होने की अपेक्षा प्रत्येक चैतन्य जीवन में होती है, जैसा जिस संवेदनवश मनुष्य, मनुष्य के साथ ~~किए~~ ~~गए~~ की जाने वाली अथवा करने योग्य अथवा करने के लिये बाध्य व्यवहार अर्थात् स्थापित मूल्यानुभूति सहित शीघ्र मूल्य का प्रकाशन होने में जो व्यवधान है यही व्यंजना एवं गति की सविपरीतता अथवा विसंगति है यही वेदना है अर्थात् दुःख है. व्यंजनीयता चैतन्य जीवन का स्वभाविक गुण है. यही देश, काल, विस्तार, रूप, गुण, स्वभाव, धर्म से व्यंजित होता है. इस सार्वभौम ~~स्वभाव~~ तथ्य से यह निष्कर्ष निकलता है कि जो व्यंजना है उसको प्रामाणित या परिभाषित करने के लिये मनुष्य में प्रयासोदय होना भी पाया जाता है. प्रयास का व्यंजना के अनुरूप होना ही गति एवं व्यंजना का योग है. यही प्रमाण या परिमाण के रूप में सिद्ध होता है. इस प्रकार व्यंजनीयता स्वयं या वातावरणस्थ संकेतों को ग्रहण करने के तात्पर्य में है उसे परिभाषित एवं प्रमाणित करने का जो प्रयास है वही गति है. यह प्रयास प्रयोग, यांत्रिकता प्रधान होती है. यांत्रिकता में कंपनात्मक गति का नियोजन होता है - यही तथ्य स्पष्ट करता है कि व्यंजनानुरूप चरितार्थता ही सफलता, समाधान एवं संतुलन है इसके विपरीत में असफलता, समस्या एवं असंतुलन है, ये स्पष्ट है.

इसके अतिरिक्त विद्यार्थी उत्पादन योग्य क्षमता का अर्जन करने में जैसा सामाजिक सहयोग प्राप्त करता है वह वैसी ही होगी. अपंग, धारनाग्रस्त समाज को सहयोग से अपंग, धारनाग्रस्त क्षमता ही अर्जित होगी. सम्पत्तिकरण उत्पादन का साक्ष्य नहीं है. तात्पर्य ब्याज प्रथा ही मनुष्य को सम्पत्तिकरण के लिए प्रेरणादायी स्रोत है. यही अंततोगत्वा पूंजीकरण शेयरीकरण (कृत्रिम मांग उत्पन्न करने के लिए की गई प्रक्रिया) सिद्ध होती है. यही सम्पत्तिकरण अर्थात प्राप्त साधनों का उपभोग करने की प्रवृत्ति को जन्म देती है. जिसको सम्पत्तिकरण प्रक्रिया में देखा जा रहा है. मनुष्य निपुणता, कुशलता एवं पांडित्य पूर्वक श्रम नियोजन करने में असमर्थ रहते हुए परम्परा से प्राप्त सम्पत्ति या अधिकार का उपभोग करने लगता है. यही द्रोह का कारण है. यही विद्रोह का आधार है जिसका साक्ष्य इतिहास है.

जिस पद के लिये जो व्यक्ति योग्य नहीं रहता उस पर उसका परम्परागत पद्धति से आसीन हो जाना ही उस पद से होने वाले कर्त्तव्य व दायित्व का निर्वाह न होना है. कर्त्तव्य और दायित्व का निर्वाह न होते हुए अधिकाधिक फल को हस्तगत करना और उसका उपभोग करना होता है. यह सक्षम प्रकृति अर्थात सक्षम व्यक्तियों के संताप का कारण होता है. यही संताप अंततोगत्वा विद्रोह के लिये बाध्य करता है क्योंकि "बुद्धिहीन शासन नहीं करेगा" जब एक अनाधिकारी किसी अधिकार पद पर आसीन होता है उसी समय वह मूर्खता का पद पाता है. यह भी अंततोगत्वा द्रोह में ही परिगणित होता है जो प्रत्यक्ष रूप में शोषण है. यह परम्परागत शासन एवं पद पर होने वाले अनाधिकार का परिणाम है. इसी को द्रोह की संज्ञा से जाना जाता है.

द्रोह मूलतः उस यथार्थता को ध्वनित करता है कि मनुष्य में होने वाले बल, बुद्धि, रूप, धन, पद के द्वारा अन्य मनुष्यों का बल, बुद्धि, रूप, धन, पद को छल-बल वंचना एवं अपहरण प्रवृत्ति स्वयं के वश में कर लेने की प्रक्रिया है. यही शोषण या द्रोह का मूल तत्व है. धन के दबाव से उत्पन्न की गई त्रस्तता को छोड़कर और पद के बल से उत्पन्न की गई त्रस्तता को द्रोह के रूप में देखा जाता है. त्रस्तता का तात्पर्य दूसरे के उत्थान में अवरोध निर्माण करने से है.

त्रस्तता मनुष्य के लिये वांछित घटना नहीं है. कोई भी मनुष्य त्रस्त नहीं रहना चाहता है. त्रस्तता से मुक्त होने के लिये ही उपरोक्त प्रकार से संघर्ष करने के लिए मनुष्य बाध्य होता है।

त्रस्त होना, त्रस्त करना यह जीवन का कार्यक्रम या परम्परा नहीं है अथवा यह मनुष्य में, से, के, लिये तृप्ति, संतुष्टि या सुखदायी प्रक्रिया या उपलब्धि नहीं है. इसी कारणवश मनुष्य इसे स्वीकार करने में असमर्थ है. साथ ही यह भी सिद्ध हो गई है कि मनुष्य द्रोह, विद्रोह, शोषण, प्रतिशोषण पूर्वक त्रस्त होने और त्रस्त करने की सीमा में संस्कृति, सभ्यता, विधि एवं व्यवस्था का पाना संभव नहीं है अथवा उससे मनुष्य का आश्वस्त-विश्वस्त होना सिद्ध नहीं हो पाता है. इन सब तथ्यों से हम इस निष्कर्ष में आते हैं कि त्रस्त होना या त्रस्त करना मानवीय परम्परा का कार्यक्रम नहीं है.

मानवीय परम्परा का आधार मानवीयता ही है. मानवीयता-पूर्ण मनुष्य में अधिक उत्पादन कम उपभोग योग्य क्षमता को पाया जाता है जो एक वस्तुगत सत्य है. जब एक मनुष्य अथवा अनेक मनुष्य अधिक उत्पादन के योग्य हो सकते हैं तो इसी साक्ष्य के आधार पर सभी मनुष्यों में ऐसी योग्यता का निर्माण होना संभव है. इस संभावना के मूल में शिक्षा एवं व्यवस्था ही प्रधान तत्व है. शिक्षा एवं व्यवस्था की [illegible] संयुक्ति में पाई जाने वाली संचेतना प्रसारण-क्षमता ही प्रधान है. ऐसी संचेतना प्रसारण क्षमता ही विधि, व्यवस्था, संस्कृति, सभ्यता की एकात्मकता को प्रमाणित करती है अथवा प्रमाणित करने के लिये बाध्य है अथवा प्रमाणित करने के लिए अभिलाषी है. इस स्थिति में हमें स्पष्ट हो गया है कि जीवन का संतुलन सामाजिक जीवन का संतुलन व व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र, अन्तर्राष्ट्र में संतुलन संस्कृति, सभ्यता, विधि-व्यवस्था की ही एकात्मकता है. इसे पाने अथवा इससे समृद्ध अथवा पूर्ण होने की दिशा में अनवरत प्रयास एवं संघर्ष किया गया है. वर्तमान बिन्दु तक वर्ग सीमान्तवर्ती संस्कृति, सभ्यता, विधि-व्यवस्था की उपलब्धियां हुई हैं। ऐसे सभी वर्ग-व्यवस्था एवं मानसिकता का सम्मेलन सुलभ हो गया है. यही सम्मेलन की सुलभता सामाजिक-चेतनापूर्ण मानसिकता में परिणत करने की बाध्यता है.

सामाजिक चेतना की दृढ़ भूमि मानवीयता ही है. मानवीयतापूर्ण जीवन में हीनता, दीनता और क्रूरता का अभाव के कारण साथ ही धीरता, वीरता, उदारता के कारण प्रत्येक मनुष्य में अधिक उत्पादन का होना यथार्थ-सिद्ध होता है क्योंकि मनुष्य जीवन अक्षय शक्ति शाली है. इसके साक्ष्य में मनुष्य में पाई जाने वाली आशा, विचार, इच्छा, संकल्प का क्षरण न होते हुए देखा गया है. साथ ही परिमार्जित होते हुए देखा जाता है जैसे हीनता, दीनता, क्रूरता परिमार्जित होकर धीरता, वीरता और उदारता का प्रकटन

और धीरता, वीरता, उदारता का परिमार्जित होकर दया, कृपा, करुणा का होना पाया जाता है. इस तथ्य से यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य द्रोह-विद्रोह, शोषण प्रवृत्तियों से परिमार्जित होकर पोषण एवं प्रतिपोषण एवं न्याय प्रदायी एवं न्याय सुरक्षा क्षमता से परिपूर्ण होता है. इसका एकमात्र उपाय मानवीय संस्कृति, सभ्यता, विधि, व्यवस्था से समृद्ध होना अथवा सम्पन्न होना है जिससे ही सम्पत्तिकरण का उन्मूलन एवं साधनीकरण प्रक्रिया, पद्धति एवं नीति सुलभ होती है।

8/12/80

संग्रह का मूल तत्व भय अथवा असुरक्षा ही है. भय या असुरक्षात्मक स्थिति के बिना संग्रह में प्रवृत्ति मनुष्य में नहीं पाई जाती है इसके आधार पर ही शोषण एवं द्रोह पूर्वक प्रक्रियाएं होती हैं। द्रोह का तात्पर्य स्वत्व, स्वतंत्रता एवं अधिकार का समापहरण करना अथवा अड़चन उत्पन्न करना है. शोषण का तात्पर्य जिसका जो स्वत्व है उसके समान मूल्य से ग्रहण करना जो वंचना-प्रवंचना एवं हीनता पूर्वक ही मनुष्य द्वारा आचरित किया जाता है.

भय और असुरक्षा प्रतिक्रिया स्वयं में क्लेश है. क्लेशवश ही मनुष्य संग्रह में प्रवृत्त होता है. क्लेशित मनुष्य सबके लिए हर्ष का कारण नहीं होता. ऐसी स्थिति में अर्थात् क्लेशित अवस्था में अपने अस्तित्व को बनाए रखने में किसी न किसी सीमा में सीमित कर लेता है. अस्तित्व की सहज स्थिति प्रकृत: अकेली नहीं है अर्थात् सीमा ग्राह्य बोध सीमित या प्रकाशित सीमा में नहीं है क्योंकि अस्तित्व समग्र ही व्यापक एवं अनन्त है. संग्रह के बाद भी उसकी असुरक्षा का भय दूर नहीं होता. ऐसे भय मूलक संग्रह का सुरक्षा के लिये जो कुछ भी सोचा जाता है किया जाता है वही परिवार या वर्ग सीमा में सीमित हो जाता है. ऐसे संग्रह कार्य में भी सतत् सशंकता रहती ही है. इस प्रकार संग्रह के ~~आदि~~ आदी मध्य और अंत में असुरक्षा, भय और सशंकता का अभाव नहीं है. ऐसी परम्परा अर्थात् संग्रह की परम्परा भी भय, सशंकता से मुक्त नहीं है. अत: संग्रह पूर्वक मनुष्य जीवन में अस्थिरता आतंक, अविश्वास के अतिरिक्त और कुछ भी सिद्ध नहीं होता है।

प्रत्येक मनुष्य स्वत्व, स्वतंत्रता एवं अधिकार से हीन नहीं होना चाहता. संग्रह के लिये अपनाने वाली जितनी भी प्रक्रियाएं हैं उनमें अन्य पुरुष को स्वत्व, स्वतंत्रता अधिकार से वंचित कराने वाली स्थिति का रहना अवश्यंभावी है. साथ ही प्रत्येक मनुष्य भय आतंक सशंकता एवं अविश्वास को झेलना नहीं चाहता चाहे वे संग्रह प्रवृत्ति की सीमा में क्यों न हों। चाहे वे शोषण एवं द्रोह से पीड़ित क्यों न हों.

इस प्रकार देख पाते हैं कि संग्रह के मूल में भी पीड़ा संग्रह के लिए किए गए कार्य विस्तार की सीमा में प्रत्येक व्यक्ति में पीड़ा का होना पाया जाता है। "जो जिसके पास रहता है वह उसका वहन करता है" इस सिद्धांत के आधार पर उक्त विश्लेषण स्पष्ट हो जाता है।

स्वत्व, स्वतंत्रता का हस्तक्षेपन होना संग्रह, द्वेष के स्थान पर समृद्ध होना और उसका कार्य व्यवहार से सम्मत होना मानव मात्र में पाई जाने वाली सम्मति है, क्योंकि कोई मनुष्य जो राक्षसीय अथवा पाशविक कार्य व्यवहार किसी के साथ करता है वह किसी के साथ मानवतापूर्वक भी व्यवहार करता है। किसीने किसी का वंचना द्रोह-शोषण किया वही मनुष्य दूसरे के साथ अर्थात जिनके साथ आश्वस्त-विश्वस्त है वह उनके साथ मनुष्य जैसा व्यवहार करता है।

प्रत्येक मनुष्य स्वयं में कितना भी दुःश्चरित्र क्यों न हो वह अपने

9/12/80 भाई बहिन, माता-पिता, मित्र को दुश्चरित्र होते हुए नहीं ~~देख सकता~~ देखना चाहता। यह प्रत्येक दुश्चरित्र व्यक्ति में पाए जाने वाले तथ्य हैं। साथ ही कोई भी दुश्चरित्र व्यक्ति सम्पूर्ण मानव को दुश्चरित्र होने की कामना नहीं कर पाता। ये सब तथ्य मनुष्य के चरित्रवान बनने के लिये अतः प्रेरणा का स्रोत है।

प्रत्येक इकाई विकास में ही राहत पाती है। विकास का क्रम स्वयं में एक तारतम्यता, तारतम्यता स्वयं में सह-अस्तित्व है। तारतम्यता का ~~अर्थ~~ तात्पर्य परस्पर प्रगति से विचलित न होने वाली सम्मिलित गति है। प्रगति निरन्तर विकास का क्रम ही है या प्रगति की निरन्तरता ही है। गठनपूर्णता के अनन्तर प्रगति क्रियापूर्णता तक, क्रियापूर्णता के अनन्तर आचरणपूर्णता तक स्पष्ट है। चैतन्य प्रकृति के आदिम जीवन का प्रकाशन जीवावस्था में हुआ है। चैतन्य प्रकृति से ही जीवन की स्थापना होती है, उसके पूर्व से जड़ प्रकृति क्रिया के रूप में स्पष्ट है ही। क्रिया ही विकसित हो कर (जड़ क्रिया) चैतन्य पद को पाती है तब तक ही गुणात्मक एवं मात्रात्मक परिवर्तन पाया जाता है। चैतन्य जीवन में गुणात्मक परिवर्तन होता है। चैतन्य प्रकृति में प्रकाशित होने वाले आशा, विचार, इच्छा एवं संकल्प का परिमार्जित परिवर्तन मनुष्य में स्पष्ट है। मनुष्य में पाए जाने वाले परिवर्तन घटित होने वाले प्रकाशन अमानवीयता, मानवीयता एवं अतिमानवीयता (त्रिनय) की सीमा में ही ज्ञातव्य है। इससे स्पष्ट होता है कि चैतन्य प्रकृति में गुणात्मक परिवर्तन होता है न कि मात्रात्मक परिवर्तन क्योंकि आशा, विचार, इच्छा और संकल्प और उनकी प्रभाव, प्रसारण क्रिया मात्रा में परिगणित नहीं होती है। साथ ही अस्तित्व में होना पाया जाता है जैसे स्नेह, विश्वास, श्रद्धा, प्रेम, वात्सल्य अनुभव में अस्तित्व प्रमाणित है जबकि उसकी मात्रा नहीं होती है। स्नेह आदि की विशालता की सीमा नहीं है। यही तथ्य प्रमाण सिद्ध होने के कारण अर्थात मनुष्य किसी न किसी सीमा में उक्त प्रमाणित तथ्यों का प्रकाशन करता ही है क्योंकि प्रत्येक क्रूर व्यक्ति भी किसी न किसी

[illegible]

यही संवेदनशीलता का अर्थ है. तात्पर्य, व्यंजना के अनुरूप चरितार्थता ही संवेदनशीलता है. इससे अंतर्विरोध ही मनुष्य को अनिश्चित गति में अवस्थित कर देता है अथवा अन्तर्विरोध-वश वह अनिश्चित गति में होता है. अस्तु मनुष्य की गति और व्यंजना के योग में ही जीने का अभ्यास करना अनिवार्य है क्योंकि इसके बिना मनुष्य में स्वभाव गति नहीं पाई जाती है. स्वभाव गति के बिना अग्रिम विकास संभव नहीं है. मानव में स्वभाव गति का प्रमाण मानवीयता ही है।"

मनुष्य संवेदनशीलता से रिक्त मुक्त नहीं है और न ही हो सकता है. चैतन्यपद के अनन्तर संवेदनशीलता अर्जित गुण है. चैतन्य पद का ह्रास होकर जड़ पद में अवस्थित होने की संभावना नहीं है क्योंकि चैतन्य पद में शक्ति का उद्गम और प्रकाशन अक्षुण्ण हो जाता है. इस अक्षय शक्ति का निःसरण गठनपूर्णता के अनन्तर ही होता है. इस प्रवृत्ति का धारण करने योग्य वातावरण में दबाव की क्षमता नहीं रह पाती है, यह गठनपूर्णता एक परमाणु की सीमा में पर्याप्त हो जाती है (पूर्ण हो जाती है). वह परमाणु अन्य परमाणुओं से अर्थात जिनकी गठनपूर्णता नहीं हुई है ऐसे परमाणुओं की अपार शक्ति से सम्पन्न हो जाती है. प्रत्येक परमाणु में जैसा उनमें समाए हुए अंशों की संख्या भेद होने मात्र से ही स्वभाव वैविध्यता प्रकाशित हुई है यही तथ्य चैतन्य क्रिया के संदर्भ में भी है. चैतन्य क्रिया होने के अनन्तर अर्थात पूर्व स्थिति से अर्थात गठनपूर्णता की पहले की स्थिति से अत्यंत उन्नत स्वभाव, गुण, धर्म को प्रकाशित करता है. यही उन्नत प्रकाशन जड़ और चैतन्य की रेखाकरण अथवा सीमाकरण को स्थापित करता है. यह स्थापना चैतन्यपक्ष के स्थापना के साथ ही होती है. इसका प्रमाणीकरण चैतन्य पद की निर्भ्रम इकाई के द्वारा सम्पन्न होता है. यही निर्भ्रम होने के लिए शिक्षा प्रदमी होती है।

मनुष्य ही संवेदनशीलतावश जीवन को प्रामाणिकता से परिपूर्ण करना चाहता है. यही प्रयासोदय का मूल आधार है. यही प्रयास, प्रयोग एवं व्यवहार में प्रकाशित होता है. प्रयोग और व्यवहार जीवन का प्रापक प्रमाण है. मनुष्य द्वारा प्रकाशित होने वाले प्रयोग एवं व्यवहार के मूल में "अनुभव" होना पाया जाता है. अनुभव के अभाव में मनुष्य व्यवहार एवं प्रयोग करते हुए देखा नहीं जा रहा है. इस प्रकार मनुष्य अनुभवमूलक प्रकाशी और अनुभवगामी अध्यवसायी सिद्ध होता है. अनुभव सत्ता स्थिति पूर्ण, वस्तुगत सत्य एवं स्थिति सत्य में, से के लिए ही होता है.

यही मूल प्रमाण क्षमता है. यही प्रामाणिकता है या प्रामाणिकता का आधार है. प्रामाणिकता के बिना मनुष्य समाधानित नहीं है. समाधान के बिना संतुलन, संतुलन के बिना सहजता, सहजता के बिना सरलता, सरलता के बिना सफलता, सफलता के बिना सह अस्तित्व एवं समृद्धि, सह अस्तित्व एवं समृद्धि के बिना संवेदनशीलता की प्रतिष्ठा, संवेदनशीलता की प्रतिष्ठा के बिना अनुभव; अनुभव के बिना समाधान नहीं है. अस्तु मानव योजना एवं गति के योग में ही समाधान एवं समृद्धि को पाता है. फलतः सह अस्तित्व सिद्ध होता है यही आद्यान्त वांछा एवं उपलब्धि है जिसके लिये मानवीयतापूर्ण संस्कृति, सभ्यता, विधि एवं व्यवस्था ही एकमात्र शरण है

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

6|12|80 पृष्ठ - २२ ~~की~~ Second Para.

"प्राकृतिक ऐश्वर्य का मूल्य शून्य है"

~~प्रकृति के क्रियाशील एवं विकासशील~~

प्रकृति के नियतिशील एवं क्रियाशील होने के फलस्वरूप ही विकास का क्रम सिद्ध हुआ है. विकास के फलस्वरूप प्रकृति में वैविध्यता साकार हुई है जिसे प्रत्येक मनुष्य देखता है. ऐसा विकास मात्रात्मक एवं गुणात्मक भेद से हुआ है. गुणात्मक एवं मात्रात्मक विकास का अभिनव यान सम्बन्ध गठनपूर्णता तक दृष्टव्य है. अर्थात जड़ क्रिया व्यापार में मात्रात्मक परिवर्तन के साथ गुणात्मक परिवर्तन होना पाया जाता है. गठनपूर्णता के अनन्तर मात्रात्मक परिवर्तन नहीं होता है. उसके अनन्तर केवल गुणात्मक परिवर्तन ही होता है. इस प्रकार केवल जड़ चैतन्यात्मक प्रकृति में गुणात्मक एवं मात्रात्मक वैविध्यता दृष्टव्य एवं ज्ञातव्य है.

देखने और समझने का साक्ष्य मनुष्य ही अथवा मानव ही दूसरे मनुष्य के लिये ज्ञापित करता है जो प्रमाणित है इस प्रकार मनुष्य ही मनुष्येतर प्रकृति के सम्बन्ध में परीक्षण, निरीक्षण, सर्वेक्षण पूर्वक अपने जीवन के व्यापार क्रम में उसकी उपयोगिता आवश्यकता अथवा अनिवार्यता का ज्ञानार्जन करता है. साथ ही सामर्थ्य अनुसार उसे अपने जीवन व्यापार के लिये एक साधन के रूप में उपयोग, उपभोग एवं वितरण करता है.

प्राकृतिक ऐश्वर्य का तात्पर्य मनुष्येतर प्रकृति से है. मनुष्येतर प्रकृति जीव, वनस्पति एवं खनिज और उसके विकार के रूप में स्पष्ट है. विकसित इकाई अविकसित इकाई का उपयोग उपभोग, शोषण व पोषण करता है इसी तथ्यवश मनुष्य भी मनुष्येतर प्रकृति के साथ वर्णित प्रकृति के लिये बाध्य है

से स्नेह, विश्वास, श्रद्धा, प्रेम, वात्सल्य आदि जो मौलिक अनुभूतियाँ हैं करता है जो जीवन की प्रामाणिकता है. प्रामाणिकता वंश ही सुख, शांति, संतोष एवं आनन्द की अनुभूति होती है जिसके लिये ही प्रत्येक इकाई करती है. उसी को पाकर वह चाहे कुछ ही क्षणों के लिए क्यों न हो, राहत पाती है और मानवता का प्रकाशन करती है। इस तथ्य से ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण प्रकृति संघर्ष भी उसकी परम स्थिति में संतुलन पाने की, समाधान पाने की, तृषा या इच्छा से जुड़ा रहता ही है- यही वह तथ्य है जो जीवन के किसी न किसी समय सन्निवेश एवं स्थिति में स्वयं को, सोचने, स्वयं के क्रिया कलापों को विश्लेषित करने के लिए बाध्य होता है. अन्य को विश्लेषित करने का प्रयास प्रत्येक मनुष्य में पाए जानेवाला स्वभाव गुण है क्योंकि प्रत्येक मनुष्य अप्राप्त को प्राप्त करने, अज्ञात को ज्ञात करने की दिशा में यत्नशील है ही. अप्राप्ति की प्राप्तियाँ प्रधानतः सामान्य आकांक्षा एवं महत्वाकांक्षा की सीमायें विश्लेषित होती है। अज्ञात को ज्ञात करने की श्रृंखला में मुक्ति ही अंतिम उपलब्धि है. उसकी पुष्टि एवं प्रमाण सिद्ध होता है. जब मनुष्य स्वयं का विश्लेषण करने के लिये बाध्य होता है और विश्लेषण में पारंगत हो जाता है तब जिसको वह अन्य समझता रहा है वह सब उनसे विधिवत सम्बद्ध रहने की प्रमाण, वास्तविकता एवं यथार्थता सिद्ध होती है. ऐसे प्रमाण को स्पष्ट होने के फलस्वरूप ही उसमें चरितार्थ होने के लिए संकल्पित होता है यही ज्ञान की गरिमा- महिमा है. ज्ञान मात्र अस्तित्व ही है. अस्तित्व अधिक या कम आदि न्यूनातिरेक को ले सकता है. यही सत्यता जब जीवन में चरितार्थ होती है तब स्वयं, स्वयं की वास्तविकता की स्थिति को पाता है ऐसी स्थिति ही प्रामाणिकता को प्रकाशित करती है. प्रकृति का प्रत्येक पद अपने स्वभाव-गुण में प्रमाणित है. यह क्रम से विकास की श्रृंखला में पाए जाने वाला प्रमाणित तथ्य है. इसी यथार्थता के प्रकाश में मानव को मानवीयता में ही अथवा मानवीयता से परिपूर्ण होने से ही उसकी प्रामाणिकता सिद्ध होती है. उसके पूर्व अर्थात अमानवीयता की सीमा में उसकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती है. फलतः सामाजिकता का प्रकाशन नहीं होता है जबकि प्रत्येक मनुष्य सामाजिक होने के लिए इच्छुक, आकांक्षु अथवा संकल्पित है ही. जन्म मृत्यु की घटनाएं मध्य के कार्यकाल में चरितार्थ होने के लिये मनुष्य इच्छुक, आकांक्षु अथवा संकल्पित है. जन्म के अनन्तर ही पूर्व संस्कारों का प्रवेश आरम्भ होता है. अल्पपन से भी मनुष्य संस्कृत होता है. फलतः उसमें संस्कृति, सभ्यता को प्रकाशित करने की क्षमता होती है गुणित संस्कारों को परम समझ कर ही अहमता से घिर जाता है. अहमता स्व-अस्तित्व के अधिमूल्यन में सम्मोहन अथवा स्व अस्तित्व के प्रति सम्मोहन वश अन्य का विमोहित करण होता है यही पर पद स्थापित करता है यही अहमता

जब एक व्यक्ति की सीमा से बढ़कर सम्बन्धों में सोभित होती है तब सम्बन्ध सीमा में होनेवाले समस्त व्यापार से ता दात्म्य-तद्रूपहोताहै. इसी कारणवश
(वे) उन सभी व्यापार स्वयं में, से, के, लिये से भिन्न न होकर अनन्यता प्रकाशित होती है- उसी के फलस्वरूप प्रेम-कुटुम्ब आदि स्थितियों भास-आभास प्रतीति एवं अनुभूत होती हैं. इस तथ्य से अहमता के आधार पर ही स्व-परता की व्याख्या एवं सीमा होती है. ऐसी अहमता को विशाल होती हुई देखने में आतीहै. जैसे पूर्व में वर्णित किया गयाहै कि इसी अहमता के विस्तार अर्थात् अस्तित्व का विस्तार, अस्तित्व स्वीकार का विस्तार, परिवार एवं वर्ग की सीमा तक मनुष्य के विस्तृत होने का प्रमाण है क्योंकि परिवार वर्ग के, से, के, लिए तादात्म्यवश अपने सर्वस्व को अर्थात् तन, मन, धन को समर्पित करते हुए तथा आहूति देने का उल्लेख इतिहास प्रस्तुत किया है. इस तथ्य से हम निष्कर्ष पर हम पहुंचते हैं कि अहमता एक व्यक्ति की सीमा से बढ़कर सम्बन्ध व्यापी अथवा सम्पर्क-व्यापी होने की संभावना है. इसी आधार पर समाज-व्यापी होने की संभावना स्पष्ट होतीहै. अतः प्रत्येक मनुष्य को सामाजिक होने का अवसर प्राप्त है कि उसे सफल बनाने का एक मात्र उपाय सामाजिकतापूर्ण संस्कारों से सुसम्पन्न करने योग्य परम्परा को स्थापित करना हीहै उसके लिए एक मात्र शरण मानवीयता हीहै. मानव के लिये मानवीयता ही स्वभाव-गति, स्वभाव गुण, स्वभाव-परम्परा किंवा स्वभाव सिद्धि है. इसके लिये मानवीयता की सीमा में ही आर्थिक विश्लेषण एवं व्यवस्था अनिवार्य है. परिवार एवं वर्ग भावना से ओतप्रोत आर्थिक चिंतन युद्ध से मुक्त नहीं हुआ है. यही द्रोह-विद्रोह का संयुक्त स्वरूप है. सामाजिकता एवं द्रोह-विद्रोह विपरीत दिशा-वाही [दिशागामी] हैं.

मानवीयता की सीमा में मनुष्य को संग्रह की आवश्यकता नहीं है क्योंकि प्रत्येक मनुष्य में मानवीयता पूर्ण पद में अधिक उत्पादन एवं कम उपभोग करने की योग्य क्षमता होती ही है. तब संग्रह की आवश्यकता की आवश्यकता ही कहाँ रही? दूसरा तथ्य यह भी है - भय के बिना मनुष्य संग्रह में प्रवृत्त नहीं होता है. भयों में से मानव में निहित अमानवीयता का भय ही अत्यंत दुःसह्य है, इसी प्रधान -भयवश ही मनुष्य स्व-अस्तित्व के संरक्षण की विवशतावश संग्रह में प्रवृत्त होता है. ऐसी स्थिति में प्रत्येक मनुष्य में पाई जाने वाली बौद्धिक गरिमा एवं महिमा कुंठित होकर अर्थात् संग्रह में तद्रूप-तदाकार होकर संग्रह को ही परम मान लेताहै मनुष्य. ऐसे ही अनेक हो जाने से परस्पर टकराव की स्थिति उत्पन्न होती है. भय, प्रलोभन, प्रवृत्ति एवं उसका विस्तार अन्यत्र को [मनुष्य की

परस्परता में अन्याय को स्वीकारते हुए ही की जाने वाली प्रक्रिया है जो जिसको अन्य समझता है वह उनके लिए अन्य हो जाता है. फलतः सामाजिकता के उद्देश्य से आरम्भ की गई जनधारना अंततोगत्वा असामाजिकता में, से, के, लिये प्रयोजित हो जाती है फलतः असफलता ही शेष रह जाती है जो जन्म-जन्म का मनुष्य जीवन में वांछित पराभव का प्रमाण है. पराभव मनुष्य वांछित वस्तु या उपलब्धि नहीं है. इसी तथ्यवश वर्ग सीमान्तवर्ती संस्कारों का मानवीयतापूर्ण जीवन में विलियन पाने के लिए बाध्य हुआ है. वर्ग सीमा से मुक्त मानवीयतापूर्ण जीवन में मनुष्य मनुष्य के प्रति आतंकित होने की संभावना का फलितः उन्मूलन हो जाता है अथवा शेष नहीं रहती है. इस प्रकार मानव में निहित अमानवीयता के भय का तिरोभाव होना और उसके आधार पर जितनी भी संग्रह-प्रवृत्ति है उसका परिमार्जन होना प्रमाणित है.

अनन्यता में मनुष्य की वैचारिक सीमाएं सीमित होती हैं अथवा संकीर्ण होती हैं. अनन्यता में उसकी विशालता होती है. संकीर्णता में प्रत्येक मनुष्य का सशंक, आतंक एवं समस्या का भाजक और विशालता में विश्वास अभय एवं समाधान से सम्पन्न होना प्रमाणित है जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य उपलब्धि है. उसे सर्व सुलभ उसकी अक्षुणता बनाए रखना, शिक्षा एवं व्यवस्था की आधुनिक क्षमता एवं दायित्व पर ही आधारित है। अतः शिक्षा एवं व्यवस्था पद्धति में आर्थिक चिंतन को मानवीयता की सीमा में अधिक उत्पादन कम उपभोग योग्य स्थिति का निर्माण करने की दिशा में सक्रियता आवश्यक है अथवा ऐसी सक्रियता का निर्माण करने के लिए सक्रियता आवश्यक है.

मनुष्य के अभ्युदय में मनुष्य की सक्रियता ही प्रधानतः दिशादायी स्रोत है. ऐसे क्रम में जब कभी भीषिकताएं अपनी पराकाष्ठा में पहुंचती है उस स्थिति में समग्र प्रक्रियाओं अर्थात संस्कृति, सभ्यता, विधि-व्यवस्था में दिशा का परिमार्जन होना अनिवार्य होता है उस स्थिति में पुनः सुदृढ़ आधारों पर अर्थात ज्ञान मीमांसा एवं तत्व मीमांसा के आधार पर कर्म-मीमांसा स्पष्ट करनी होती है जिसमें से आचार संहिता निष्पन्न होती है. उसी के लिये उन्हीं आधारों पर आर्थिक विश्लेषण, ऐतिहासिक विश्लेषण, सामाजिक विश्लेषण होना होता है फलस्वरूप सभ्यता एवं उनके संरक्षण हेतु विधि एवं व्यवस्था स्थापित होनी होती है तभी जीवन के भटकाव से मुक्त होकर निश्चित दिशा को पाना होता है.

11/12/80

मनुष्य, मनुष्य को अन्य समझना ही जीवन में भटकाव का होना है क्योंकि मनुष्य, मनुष्य को जिस क्षण से अन्य समझता है उसी क्षण से उसका सामाजिक दायित्व उससे निर्वाह होने के स्थान पर तत्काल ही स्वयं की विशेषता जो अहंकार से सम्बद्ध रहती है उसके प्रभाव से दूसरे को हतप्रभ बनाने अथवा हतप्रभ होने के लिए बाध्य हो जाते हैं जो, स्पष्टतः देखा जा रहा है. यह हतप्रभ स्थिति मनुष्य का वांछित तत्व नहीं है. हतप्रभता जीवन की गति नहीं है. हतप्रभता दीनता अथवा दासता का मूलभूत आधार होती है. मनुष्य, मनुष्य को हतप्रभ करने के प्रयास का आधार अहंकार एवं अभिमान होता है जिसका प्रकाशन दोष, मद मात्सर्य के रूप में होता है. फलतः उभय स्थितियों का आधार अज्ञान नहीं है. अज्ञान, ज्ञान के योग्य क्षमता अर्थात ज्ञान प्रकाशन योग्य क्षमता में न्यूनता से है. यह ज्ञानावस्था की इकाई के विकास में पाए जाने वाले क्रम में दृष्टव्य है. इस क्रम से जो एक वस्तुगत सत्य के रूप में यथार्थता, वास्तविकता एवं सत्यता को प्रकाशित करने के लिये अथवा प्रमाणित करने के लिये अथवा अनुभूत होने के लिये जो निरन्तर प्रयास है उसी के फलस्वरूप उनमें विभिन्न क्षमताएं विभिन्न स्थितियों में दृष्टव्य हैं. इसी सापेक्षतावश, विचार-वैविध्यता पाई जाती है. विचार ही समाधान एवं अनुभूति की स्थिति में समझदारी की समानता को प्रमाणित करता है. यह समाधान एवं अनुभूति विहीन स्थिति में अथवा उसके योग्य क्षमता के अभाव एवं न्यूनता की स्थिति में वैचारिक विषमताएं पाई जाती हैं क्योंकि "मानव सही में एक गलती में अनेक है". अतः मनुष्य वैचारिक एकता की स्थिति में परिपूर्णता को पाता है) मनुष्य, मनुष्य को अन्य समझने के दोष से मुक्त होने का एक मात्र उपाय है. वह मानवीयता पूर्ण संस्कृति, सभ्यता, विधि एवं व्यवस्था से ही सफल होता है अन्यथा असफल होता है.

श्रम नियोजन, श्रम विनिमय पद्धति को विकसित करने से एवं व्यवहारान्वयन कर लेने से अर्थ व्यवस्थायें होने वाले दोष दूर होते हैं इसके साथ ही वृद्धि-विहीन-वितरण सहायता पद्धति को अपनाकर अनिवार्य प्रक्रिया रहेगी. अर्थ व्यवस्था के घर में प्रत्येक व्यक्ति को राष्ट्रीय उत्पादन में भाग लेने योग्य क्षमता, योग्यता एवं पात्रता को

निर्माण करना होगा. प्रत्येक मनुष्य प्राकृतिक सम्पदा पर श्रम नियोजन करने के लिए बाध्य है ही या रहेगा. प्रत्येक व्यक्ति को अपने से किए गए उत्पादन पर स्वत्व रहेगा. उसका सदुपयोग करने की स्वतंत्रता रहेगी और उसका उचित पद्धति से वितरण करने का अधिकार रहेगा. यह स्वत्व स्वतंत्रता अधिकार प्रत्येक व्यक्ति के लिये अनिवार्य उपलब्ध है. उसे सर्व सुलभ बनाना होगा. स्वत्व स्वतंत्रता एवं अधिकार मानवीयता की सीमा में 'नियम त्रय" पूर्वक नियंत्रित होता है. ऐसी मानवीयता को सर्व सुलभ बनाने योग्य शिक्षण व्यवस्था रहेगी जिससे फलस्वरूप अपव्ययता से मुक्त हो सकेगा. प्रत्येक व्यक्ति से किया गया उत्पादन सदुपयोग, उपयोग एवं वितरण में प्रयोजित होता है. प्रत्येक व्यक्ति मनुष्य के साथ व्यवहार करने एवं उत्पादन करने के लिए बाध्य है. व्यवहार के निमित्त ही उत्पादन एक अनिवार्य आवश्यकता है. प्रत्येक मनुष्य किये गए उत्पादन को अथवा सेवा को अन्य वस्तु व सेवा में परिवर्तित करना चाहता है. इसी तथ्यवश विनिमय की नितांत आवश्यकता है. विनिमय एक व्यवस्था है. ऐसी व्यवस्था के मूल में प्रत्येक वस्तु के निर्माण में लगने वाले श्रम की मात्रा का निर्धारण करना प्रथम प्रक्रिया है. इस प्रक्रिया के अनन्तर प्रत्येक वस्तु में अपेक्षाकृत मूल्य स्थिर होता है. उन्हीं पारिमाणिक मूल्यों के आधार पर वस्तुओं का आदान-प्रदान सुलभ हो जाता है. अर्थव्यवस्था के मूल में उत्पादन के लिए साधनों का सुलभ होना प्रधान तत्व है. तदनन्तर विनिमय कार्य सर्व-सुलभ होता है. अर्थात् जो जिस वस्तु के बदले में जो वस्तु व सेवा पाना चाहता है उसका सुलभ होना व्यवस्था की सफलता का प्रधान लक्षण है. वर्तमान विश्व में वस्तुओं के स्थानांतरण के लिए समुचित गति सुलभ हो गई है. इसी के आधार पर विनिमय पद्धति को विकसित करने, समृद्ध बनाने तथा सुलभ बनाने की संभावना पूर्णतया उपलब्ध है.

इस पृथ्वी पर मानवजीवन परम्परा की अक्षुण्णता हेतु परस्पर व्यवहार अनिवार्य तत्व है. व्यवहार मानवीयता की सीमा में सार्वभौम है. मानव-मानवीयता से समृद्ध होने के लिये बाध्य है. व्यवहार विहीन मनुष्य नहीं है. मनुष्य जीवन जड़-चैतन्यात्मक है. चैतन्य पक्ष में समाधान एवं अनुभूति अर्थात् सुख, शांति, संतोष एवं आनन्दानुभूति होना जीवन का लक्ष्य है. इस लक्ष्य को पाने के लिये ही व्यवसाय एवं व्यवहार किया जाता है. परस्पर शोषण एवं वंचना पूर्वक आर्थिक असंतुलन होते हैं. [illegible] जानकर भौतिक समृद्धि नहीं हो पाती है. [illegible]

मनुष्येतर प्रकृति अपने में अपने स्वमूल्य सहित रहते हुए देखी जाती है जो उसका प्रकाशन है। जब मनुष्य की अपेक्षा में उपयोगिता मूल्य तथा सुन्दरता मूल्य को पाने के लिए ~~मनुष्य~~ केवल श्रम नियोजन होना आवश्यक है। यह दर्शन से आरम्भ होकर उपयोग, उपभोग एवं वितरण तक सम्बन्ध है। तात्पर्य - प्रकृति के प्रत्येक अंश को या समग्र को समझने में उसे प्रभावित करने में और उसको साधन रूप में ग्रहण एवं परिवर्तन करने में मनुष्य का श्रम नियोजन होना पाया जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रम नियोजन पूर्वक ही प्राकृतिक व्यवहृत करने में श्रम का प्रयोग एवं नियोजन करना एक अनिवार्य स्थिति है। इस प्रकार शुद्धतः मनुष्य श्रम नियोजन के वस्तुओं के मूल्यों को पारिभाषित करना आवश्यक है जबकि ~~मनुष्य~~ मूल्य विहीन वस्तु नहीं है। मूल्यों का ही उपयोग, उपभोग और वितरण होता है। यह रासायनिक एवं भौतिक सीमा के द्रव्यों की सीमा में सीमित है। इसलिये इस सीमा के सम्पूर्ण अस्तित्व में जो मूल्य है वह उसका स्वभाव मूल्य है। वह होने में मनुष्य का कोई योगदान नहीं है, अर्थात कोई श्रम नियोजन नहीं है। इस तथ्य से यह निष्कर्ष निकलता है कि "श्रम नियोजन विहीन स्थिति में मनुष्य मनुष्येतर प्रकृति के मूल्यों को मूल्यांकित करना संभव नहीं है। मूल्यांकन अपेक्षा के बिना और अपेक्षित आवश्यकता के बिना सिद्ध नहीं होता है - इस पद्धति से प्राकृतिक ऐश्वर्य का मूल्य शून्य है।

8/1/80 "परम्परा से प्राप्त साधनों का मूल्य शून्यकरण प्रक्रिया से सम्पत्तिकरण सम्बन्धी समस्या का निराकरण है" —

यह देखने में आता है कि पीढ़ी से अग्रिम पीढ़ी को साधनों की प्रदाय परम्परा मनुष्य में ही पाई जाती है। मनुष्येतर प्रकृति में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है। यह सफलता मनुष्य को उपभोग से अधिक उत्पादन करने का साक्ष्य सिद्ध करती है। ऐसे साधनों का प्रदाय करते समय प्रत्येक मनुष्य की यही कामना रहती है कि इन्हीं साधनों का विपुलीकरण हो न कि उनका नाश अथवा अपव्यय। वास्तव में प्राप्त साधनों का अपव्यय ही नाश में परिणित होता है। अस्तु अपव्यय मनुष्य के लिये वांछित प्रक्रिया नहीं है। इन तथ्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि हमें जो कुछ भी परम्परा से प्राप्त साधन हैं वह पुनः उत्पादन के लिये साधन हैं न कि उपभोग के लिए। वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति श्रम नियोजन पूर्वक ही वस्तु का उपभोग करने के अधिकार को प्राप्त करता है

(९) नैतिकता:- अर्थ अर्थात् सदुपयोग और सुरक्षावादी कार्य विन्यास है. उदाहरण के अर्थात् नियतिक्रम इस प्रकार से देखा जाता है कि जो मनुष्य को अधिक प्रेरित होता है उसकी ही [illegible] जाता है. अतिरंजन में उससे अधिक के संग्रह का साथ ही व्यवसाय और व्यवहार की प्रेरणा और स्रोत है. फलस्वरूप: अर्थात् व्यवसाय व्यवहार के फलस्वरूप अर्थ की पहचान होती है. अर्थ की पहचान का मनोवैज्ञानिक अर्थात् वैचारिक अपेक्षा होने से इसका सदुपयोग और सुरक्षा की आकांक्षा - इस प्रकार अर्थ का सदुपयोग और सुरक्षा स्वाभाविक आवश्यकता है इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि नैतिकता कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो मूल्य, चरित्र और ~~नैतिकता~~ से भिन्न हो..

प्रत्येक मनुष्य सदुपयोग और सुरक्षा सम्बन्धी प्रयास करता ही आया है और करता ही रहेगा. इसमें प्रधान मुद्दा नैतिकता के सम्बन्ध में वादविवाद है. वादविवाद किसी मुद्दे में तब तक रहेगा जब तक उस मुद्दे के सम्बन्ध में हम मानव प्रामाणिक न हो जाएं क्योंकि प्रामाणिकता और समाधान ही सार्वभौम है। जैसे प्रत्येक वादविवाद के मूल में हम यह पाते हैं कि एक से अधिक पक्षों का होना, एक पक्ष गलत हो अथवा सभी पक्ष गलत हों तभी वादविवाद होता है. सभी सही हों वादविवाद हो ऐसा कोई मुद्दा आज तक इस धरती पर नहीं दिखा. इस सिद्धांत को भूत-भविष्य में जाकर हम प्रमाणित नहीं कर सकते हैं क्योंकि भूत बीत चुका है भविष्य समीचीन नहीं है. समीचीन मात्र वर्तमान है. वर्तमान में ही इस सिद्धांत को समस्त परिप्रेक्ष्यों, कोणों, आयामों और दिशाओं में ~~[illegible]~~ परखें तो - प्रत्येक मनुष्य में रुचि, आकांक्षा, लक्ष्य भेद से अर्थ का उपयोग प्रमाणित है. रुचि मूलक जितना भी अर्थ का उपयोग होता है वह विशेषकर इन्द्रिय सन्निकर्ष और इन्द्रिय तृप्ति के अर्थ में वस्तुओं का नियोजन करना पाया जाता है. इन्द्रिय तृप्ति अथवा इन्द्रिय सन्निकर्ष मानव अथवा एक व्यक्ति की तृप्ति का सिद्ध नहीं हुई. रुचि के आधार पर इन्द्रिय तृप्ति का प्रयास अधिकांश लोग करते आए हैं जो कि यह स्वयं इस बात का द्योतक है कि रुचिमूलक प्रवृत्ति से आकांक्षा और लक्ष्यवादी कार्य विन्यास अथवा चरित्र और उसकी सफलता के अर्थ में उपभोग और उपयोग क्रम सम्पन्न होने के लिए समुचित जागृति अधिकांश लोगों में नहीं हो पायी. इसका मूल कारण है प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक बालक को किसी न किसी [illegible] में समर्पित होना देखा जाता है.

यही जो ~~[illegible]~~ चाहे ~~धर्म [illegible] से, राज्य [illegible] से हो [illegible] जीवन [illegible]~~ प्रत्येक जाति, मत, सम्प्रदाय, वर्ग, नस्ल, रंग, और राष्ट्रवादी संस्थाएं उनमें जो समर्पित हैं उन्हें उसी प्रकार से जागृत करने की आवश्यकता है. - यही विधि से वे अपने मानव लक्ष्य और आकांक्षा [illegible] वादी पद्धति से अर्थ का उपयोग, उपभोग वितरण ~~कर सके~~ कर सके.

~~[illegible]~~ मानव आकांक्षा, न्याय मूलक व विनिमय मूलकता ही ~~कि मनुष्य के भी लक्ष्य का अर्थ है.~~ मानव की ~~आकांक्षा~~ सार्वभौम आकांक्षा व लक्ष्य है. ~~सार्वभौम~~ का तात्पर्य प्रत्येक मनुष्य में विद्यमानता और वर्तमानता से है. सार्वभौमता की आकांक्षा के सम्बन्ध में, वर्तमानता लक्ष्य ही विकास में [illegible]

(2) मानव का आकांक्षा और लक्ष्य सार्वभौम होने का कारण मूल्य, चरित्र और नैतिकता की अविभाज्य वर्तमान सार्वभौम रूप में प्रतिष्ठित होने की संभावना स्पष्ट है - इस प्रकार नैतिकता वर्ग, सम्प्रदाय, पंथ में सम्प्रदायादि सार्वभौम के रूप में नहीं देखी जाती है. इसका कारण उन-उनकी सीमायें ही हैं।

मूल्य: शाश्वत रूप में होना ज्ञातव्य है. मूल्य जीवन मूल्य, मानव मूल्य, व्यवहार मूल्य और व्यवसाय मूल्य के रूप में गण्य है.

जीवन मूल्य, सुख, शांति, संतोष और आनंद जीवन के अभीष्ट के रूप में स्पष्ट है. (देखना = समझना, समझना = देखना) ~~या प्रामाणिकता में वैभवित (वैभव) होना प्रमाण प्राप्त करना है - मौलिक होना ही प्रामाणिक है~~ — इसका प्रमाण, प्रामाणिकता में वैभवित होता ही है. प्रामाणिकता ही अभिव्यक्ति व्यवहार, में ही होती है और प्रमाण प्रयोग, व्यवहार और व्यवसाय — अनुभव में सिद्ध होने से है. अनुभव के अभाव में अथवा अनुभव क्षमता के अभाव में मनुष्य द्वारा व्यवसाय और व्यवहार सम्पन्न होता हुआ देखने में नहीं आता. इससे स्पष्ट हो गया कि मनुष्य के समस्त आयाम, दिशा, कोण, परिप्रेक्ष्य सम्बन्धी सामरस्यता अनुभव में ही चरितार्थ होती है. इस प्रकार समग्र मनुष्य अनुभव मूलक अथवा अनुभव प्रधान जीवन-कार्य-व्यवहार-विचार सम्पन्न है. सम्पूर्ण मूल्य अनुभव में ही पहचानने में आता है -

(2) मानव मूल्य: — धीरता, वीरता, उदारता, दया, कृपा, करुणा के स्वरूप में है. मानव मूल्य ही मानव का स्वत्व है. स्वत्व के साथ ही स्वतंत्रता और अधिकार नित्य वर्तमान है - जो स्वत्व नहीं है जैसे अमानवीयता - उससे सम्पूर्ण प्रयासों पर भी स्वतंत्रता और अधिकार मानव में सिद्ध नहीं होता - क्योंकि अमानवीयता मानव का स्वत्व है ही नहीं जो हीनता, दीनता और क्रूरता का प्रकाशन है - इस प्रकार से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि अमानवीयता सार्वभौम नहीं है और मानव मूल्य (मानवीयता) ही सार्वभौम होने की सत्यता सिद्ध है -

3) व्यवहार मूल्यों को स्थापित सम्बंधों में निहित स्थापित मूल्य और शिष्ट मूल्य के स्वरूप में देखा जाता है - वे हैं कृतज्ञता, गौरव, श्रद्धा, प्रेम, विश्वास, वात्सल्य, ममता, सम्मान, स्नेह के रूप में स्थापित मूल्यों को पहचाना जाता है - (अनुभव में ही) फलतः अनेक इन स्थापित मूल्यों की पहचान होने के फलस्वरूप होने वाली अभिव्यक्तियां शिष्ट मूल्य के रूप में ~~जानी जाती~~ हैं जो क्रमशः सौम्यता, सरलता, पूज्यता, अनन्यता, सौजन्यता, सहजता, उदारता, अखंडता, निष्ठा है। इस प्रकार इन मूल्यों का अर्थ सार्वभौम होना स्पष्ट है - सार्वभौमता ही अभिव्यक्ति, सम्प्रेषण, विश्लेषण का आधार है।

मानव सम्पूर्ण अर्थ अर्थात् मूल्यों का सदुपयोग और सुरक्षा के लिये निरन्तर आशावादी और प्रयत्नशील होने के कारण इस बात को सिद्ध कर देता है कि सार्वभौमता के अर्थ में ही अविरत प्रयासरत रहे हैं। इसके प्रमाण का कारण मात्र ~~मनुष्य की~~ सीमावर्ती चेतना ही सिद्ध हुई है। इसे सार्वभौम रूप में देखने के लिए सार्वभौमता ही आधार है। जैसे - मानव जाति एक कर्म अनेक, मानवधर्म एक मत अनेक, ईश्वर एक ~~आदि~~ देवता अनेक, अखण्ड राष्ट्र अनेक (सीमायें) यह इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सार्वभौम तथ्यों पर आधारित कार्य-व्यवहार, शिक्षा-दीक्षा संस्कार सार्वभौम ~~होने की व्यवस्थायें~~ हैं। सार्वभौमता को देखने, समझने और उसका प्रकाशन, अभिव्यक्ति ~~और~~ तथा संप्रेषणाधिकार मानव संचेतना ही स्पष्ट है - संचेतना जीवन का पूर्ण स्वरूप अथवा साक्ष्य प्रत्येक मनुष्य में होने वाली संवेदनशीलता और संज्ञानशीलता हैं ऐसी संवेदनशीलता एवं संज्ञानशीलता संयुक्त स्वरूप में जीवन वैभव दिखाई पड़ती है यही परिष्कृत अपरिष्कृत एवं परिष्कृतपूर्ण प्रभेदों में दृष्टव्य है। संचेतना में परिष्कृति और परिष्कृतिपूर्णता ही जीवन में गुणात्मक विकास का अर्थ है। अपरिष्कृत संचेतना ~~मानवीयता~~ रहित मनुष्य अमानवीयता; परिष्कृत और परिष्कृतपूर्ण संचेतना पूर्वक ही मानव मूल्यों को पहचानता और प्रकाशित करता है। इस प्रकार ~~मूल्यों~~ को प्रकाशित करने का क्रम ही में चरित्र और नैतिकता स्पष्ट है।

चरित्र का तात्पर्य ही अभिव्यक्ति, संप्रेषणा, कार्य विन्यास, ~~में~~ सार्थक सिद्ध होने से है। अर्थ का तात्पर्य मूल्य से है - ~~इस प्रकार मूल्य और चरित्र अविभाज्य~~ ~~[illegible]~~ इस प्रकार मूल्य, चरित्र और नैतिकता अविभाज्य वर्तमान होना सिद्ध है। चरित्रपूर्णता ही चरित्र है। चरित्रपूर्णता का तात्पर्य मूल्यों के निर्वहन से है। प्रधानत: मानव मूल्य, ~~[illegible]~~ और समाज मूल्य से है मानव मूल्य और समाज मूल्य के आधार पर ही कर्तव्य, उत्तरदायित्व फलत: चरित्र के लिये बाध्यता सिद्ध होती है। मानव मूल्यों को पहचाने बिना समाज मूल्य पहचानने में नहीं आते। क्योंकि मानव मूल्य ही प्रावर्तित होकर समाज मूल्य में प्रकाशित होता है। अत: मानव मूल्य पूर्ण कार्य विन्यास ही मानव चरित्र सिद्ध हुआ जो उसकी सार्वभौमता का प्रमाण है।

(२) व्यवसाय मूल्य: —— सामाजिक कार्य ~~[illegible]~~ और शरीर निर्वाह अर्थात् शरीर पोषण कार्य व्यवहार विन्यास की आवश्यकता के अर्थ में सार्वभौम है। व्यवसाय मूल्यों की आवश्यकताएं दो कोटि में ~~[illegible]~~ गण्य है - (१) सामान्य आकांक्षा - (२) महत्वाकांक्षा

सामान्य आकांक्षाएं - आहार, आवास, अलंकार के ~~रूप~~ अर्थ में तथा महत्वाकांक्षाएं दूर श्रवण, दूर गमन, दूर दर्शन के अर्थ में स्पष्ट हैं। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी विशेषकर युद्ध ~~आदि~~ और शोषण के अर्थ में किया गया उत्पादन सामाजिक सिद्ध नहीं हुआ। सामाजिकता के अर्थ में महत्वाकांक्षा और सामान्य आकांक्षा वादी वस्तुओं की आवश्यकता है यही आवश्यकता का अर्थ है (स्वरूप है) वर्तमान ~~[illegible]~~ मानवीयतापूर्ण संचेतना ~~[illegible]~~ में अथवा परिष्कृति एवं परिष्कृतिपूर्ण संचेतना का ~~[illegible]~~ वाणी कार्य, व्यवहार अर्थात् ~~[illegible]~~ में ~~[illegible]~~ मत होना अथवा संपित होना देखी जाती है।

(8)
1. मानव चेतनावादी चरित्र में व्यसनों की आवश्यकता नहीं होती,
2. मूल्यों का अधिमूल्यन और अवमूल्यन नहीं होता
3. इन्द्रिय लिप्सा (इन्द्रियों के प्रति अधिमूल्यन नहीं होता)
4. समाज मूल्यों की अवहेलना तथा उपेक्षा (अवमूल्यन नहीं होता)
5. शोषण और युद्ध नहीं होता (व्यसन ही अनैतिकता है)

उपरोक्त पांच प्रकार के आचरण की स्थिति में मनुष्य को नैतिक और मूल्यों के प्रति उत्तरदायी होना नहीं पाया जाता (निषेधात्मक आचरण की स्थिति में नैतिकता और मूल्यों [illegible])

1) विधि रूप में (संयमता अर्थात विकास के क्रम में ही अर्थात गुणात्मक विकास और निरन्तरता के क्रम में ही मूल्य और मूल्यांकन करना। मूल्य का तात्पर्य मूल्य वाहकता (धारकता) से है)
2) प्रत्येक मूल्य को उसकी यथार्थता वास्तविकता और सत्यता के रूप में पहचाना होगा.
3) जीवन जागृति के लिए ये नियति क्रम पूर्वक जीवन की ~~नित्यता~~ नित्यता और शरीर की नश्वरता का मूल्यांकन होगा -
4) समाज मूल्यों का वहन होगा जो दायित्व और उत्तरदायित्व है तथा ही व्यवसाय मूल्यों की सक्रिय भागीदारी होगा. यही व्यवहार में सामाजिक और व्यवसाय में स्वावलम्बन का स्वरूप है
5) मानव चेतना पूर्ण कार्य-व्यवहार-शिक्षा-संस्कार-व्यवस्था विन्यास में सार्वभौमता अर्थात संस्कृति, सभ्यता, विधि, व्यवस्था और शिक्षा संस्कार में समरूपता सार्वभौम होने के कारण अविकसित को विकसित करने की बाध्यता, कर्तव्य, सहयोग, सहकारिता होगी -

मनुष्य में सृजन शीलता ही वैभव, यह मानव चेतना पूर्वक सफल होता है. अमानवीय चेतना पूर्वक असफल होता है. क्योंकि सम्पूर्ण सृजनशीलता सार्वभौमता के अर्थ में ही अपने वैभव को स्पष्ट करती है मानव चेतना में रहस्य, संशयता आदि दोष नहीं होने के कारण विश्वास, श्रद्धा, सुन्दरता आदि जैसे समाज मूल्यों का धारक-वाहक होने के कारण अमानव चेतना सार्वभौम न होने के कारण, मानव चेतना सार्वभौम होने के कारण मानव चेतना पूर्ण कार्य-व्यवहार शिक्षा-व्यवस्था में अथवा पूर्वक ही प्रत्येक मनुष्य का सार्थक होना सिद्ध होता है. यही मानव का नित्य वैभव एवं नित्य मंगलकारी और वादी व्यवस्था है.

मानव का महत्व

अमरकंटक
29-7-81

श्रम नियोजन और श्रम विनिमय पद्धति
प्राकृतिक ऐश्वर्य + श्रम नियोजन = मूल्य.

मनुष्य का सम्पूर्ण श्रम प्राकृतिक ऐश्वर्य पर ही नियोजित होता है. मनुष्येतर प्रकृति को प्राकृतिक ऐश्वर्य के नाम से इंगित कराया गया है जैसे जीव, वनस्पति और पदार्थ विरचना की प्रकृति जिस पर मनुष्य द्वारा श्रम नियोजन करना प्रसिद्ध है. ऐसे श्रम के मूल में विचार शक्ति ही पूँजी है. विचार शक्ति की जो निपुणता कुशलता का भाव है वही विचार शक्ति शरीर के द्वारा परावर्तित होता है फलतः नियोजित वस्तुओं में उपयोगिता मूल्य एवं सुन्दरता मूल्य सिद्ध होता है जिसका मूल्यांकन होना अपेक्षाकृत पद्धति से पाया जाता है ऐसे मूल्यांकन के मूल में निपुणता, कुशलता में पारंगतत्व हस्तलाघव, समय-साधन एवं आवश्यकता, अवसर का योग होता है. इसी योगफल में मूल्य सिद्ध होता है. यही उत्पादित मूल्य हुआ अथवा उत्पादन मूल्य हुआ. इसी की अपेक्षा में विनिमय मूल्य भी सिद्ध होता है जैसे गेहूँ, धान, लोहा, सोना आदि के परस्पर उक्त सभी शर्तों की अपेक्षा में मूल्य निर्धारण हो जाता है. फलतः विनिमय मूल्य होता है. सम्पूर्ण व्यवसायिक मूल्य उपयोगिता एवं सुन्दरता मूल्य की सीमा में सीमित हैं।

वस्तु व सेवा के मूल्य निर्धारण पूर्वक ही अंतर्विरोध विनिमय नीति निश्चित होती है. वस्तु के मूल्य निर्धारण की बात ऊपर कह चुके हैं। सम्पूर्ण सेवायें उत्पादन व संस्कृति के अर्थ में ही चरितार्थ होती है. इसके अतिरिक्त किसी सेवा की सार्थकता नहीं है। फलतः ऐसी सेवाओं की कोई मौलिकता सामाजिकता की दृष्टि से सार्थक सिद्ध नहीं होती. सार्थक सेवा ही प्रति मूल्यों को पाने की अधिकारी भी होती है. प्रधानतः सेवा उत्पादन की सहयोगिता में न्याय व्यवस्था और स्वास्थ्य के सम्बंध में देखी जाती है: इसे एक परिवार से राज्य व्यवस्था एवं राष्ट्र-व्यवस्था की सीमा में देखा जाता है. सेवा में निपुणता, कुशलता एवं पांडित्य की परावर्तित रूप होती है इनके प्रतिफल के मानदण्ड के लिए भी समय, आवश्यकता, अधिकार, प्रवीणता ही आधार हैं। इस प्रकार श्रम नियोजन एवं श्रम विनिमय पद्धति को विकसित करना एक सहज सम्भावना है. इस पद्धति में पत्र मुद्रा के माध्यम से विनिमय में होने वाले कृत्रिम अभाव का अभाव होने के साथ ही कृत्रिम पत्र मुद्रा का प्रचलन एवं प्रवृत्ति ~~[illegible]~~ समाप्त होती है. जो वर्तमान अर्थव्यवस्था के प्रधान समस्या है उससे सम्पत्ति करण समस्या का निराकरण होकर समाधानिक समाधान होता है. ब्याज विहीन वृद्धि रहित सहायता पद्धति भी सम्पत्ति करण समस्या को दूर करती है।

(प्राकृतिक ऐश्वर्य एवं पैतृक संपत्ति को साधन के रूप में ही प्रयोग करने पर मानव सुखी हो सकता है।

1. प्राकृतिक ऐश्वर्य का मूल्य शून्य
2. पैतृक सम्पत्ति का ~~[illegible]~~ उपभोग मूल्य शून्य
3. पत्र मुद्रा का समाप्त हो जाना। या शून्य हो जाना
4. श्रम विनिमय एवं श्रम नियोजन पद्धति का प्रयोग अवश्यम्भावी -

30/9(8) प्रत्येक मनुष्य क्या चाहता है?

(1) प्रत्येक मनुष्य जन्म से ही सही करना चाहता है
(2) " " न्याय चाहता है
(3) " " सुखी होना चाहता है
(4) " " समाधान चाहता है
(5) " " समृद्धि चाहता है
(6) " " सुरक्षित रहना चाहता है
(7) " " बैर हीन रहना चाहता है
(8) " " विश्राम चाहता है.

इसकी सफलता संस्कृति - परम्परा (जिससे संस्कारों का आरोपण होता है) शिक्षा और व्यवस्था पूर्वक ही होती है. इसका आधार केवल मानवीयता ही है.

Page-23 सामाजिकता का प्रधान लक्षण यह अखंडता है यह मानवीयता की सीमा में ही सम्भव होता है. यह अखंडता ही चारित्रता सामरस्यता है. सामरस्यता में विरोध का अभाव होता है. मनुष्येतर प्रकृति में यह देखा जाता है कि वे अपने ~~संस्कृति जाति~~, रूप गत जाति, गुण गत जाति और स्वभाव गत जाति का प्रकाशन करते हैं. जबकि मनुष्य में होने वाला प्रकाशन स्वयं में वैविध्य सहित है. वैविध्यता के अर्थ में ही विरोध और सशंकता पाई हुई है. इसका कारण यह है कि मनुष्य कर्म करते समय स्वतंत्र एवं फल भोगते समय परतंत्र होता है. जबकि मनुष्येतर प्रकृति में यह देखा जाता है कि कर्म करते समय ~~म~~ में भी परतंत्र होता है जैसे गाय, बकरी, भालू, बाघ आदि अपने स्वभावगत जाति के अनुसार कार्यरत होते हुए देखे जाते हैं. गाय का जन्मारम्भ से होने वाले क्रियाकलाप ~~ब~~ बाघ जैसे नहीं होते और बाघ के जन्म से होने ~~वाली~~ वाले क्रियाकलाप गाय जैसे नहीं होते.

आम, इमली, गेहूं, धान आदि बीज से उत्पन्न होने वाले सभी पेड़ पौधे वृक्ष लता, गुल्म आदि का अंकुरण ~~समय~~ समय से ही उनमें गुणगत प्रकाशन होता हुआ देखा जाता है. वह उसके पूर्व अर्थात् बीज के पूर्व पेड़ पौधे आदि के ही अनुरूप होते हैं।

मृद, पाषाण, मणि, धातु आदि जितने भी तत्व हैं वे अपना रूपगत प्रकाशन उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार उसी रूप की दूसरी इकाइयाँ प्रकाशित करती हैं. इस पृथ्वी में चार ही अवस्था की स्थिति में प्रकृति विद्यमान है. मनुष्य ज्ञानावस्था की इकाई है जिसमें संवेदनशीलता एवं ज्ञानशीलता (दर्शन क्षमता) प्रकाशित है. जीव मात्र जीवावस्था में गण्य है इनमें संवेदनशीलता को देखा जाता है. संवेदनशीलता का प्रधान प्रकाशन ही पीड़ा या क्लेश तथा हर्ष, सुख की व्यंजना होना है. इसके फलस्वरूप रुदन एवं हास्य होता है. प्राणावस्था में संवेदनशीलता के आंशिक रूप को देखा जाता है. साथ ही पदार्थावस्था में संवेदनशीलता सुप्त-सुषुप्तावस्था में होती है क्योंकि जो था नहीं उसका विकास नहीं होता. इस प्रकार जो अस्तित्व में है वही विकास पूर्वक अभिव्यक्ति के रूप में स्थित पाया जाता है. इसी के अनुषंगिक ज्ञानावस्था के मानव में यह देखा जा रहा है कि अनेक जीवों के अनुकरण में पशु मानव, राक्षस मानव एवं विकसित होकर मानव देव मानव तथा दिव्य मानव की स्वभाव अभिव्यक्ति के लिए वह अर्ह (योग्य, पात्र) है।

मनुष्य के विकसित होने का मूल तत्व है उसकी संज्ञानशीलता. संज्ञानशीलता ही दार्शनिक क्षमता का स्रोत है. दार्शनिक क्षमता ही वस्तुस्थिति सत्य जिसमें देशकाल-दिशा का प्रकाशन है, वस्तुगत सत्य जिसमें रूप, गुण, स्वभाव का प्रकाशन है, स्थिति सत्य जो सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति है, अस्तित्व के रूप में स्थित है. इनमें स्पष्ट ज्ञान योग्य क्षमता, योग्यता, पात्रता ही संज्ञानीयता है. इसी तथ्यवश मनुष्य ज्ञान धर्मी है. सुख ही क्रम से शांति, संतोष एवं आनन्द की संज्ञा से ख्यात है जो जड़ चैतन्यात्मक प्रकृति का मूल लक्ष्य है इसी के उपलक्ष्य में वह स्व विकास के लिए बाध्य है. मनुष्य कर्म करते समय स्वतंत्र होने के कारण अर्थात स्व आशा, विचार एवं संकल्प के अनुरूप कर्म करने के योग्य होने के कारण उसी स्वतंत्रता का प्रयोग प्रत्येक मनुष्य करता है प्रत्येक कार्यकलाप के मूल में सुख की अभिलाषा रहती ही है. जबकि मनुष्य स्वेच्छा परिपाकी कर्म और विचार भी करता है इससे स्पष्ट होता है कि मनुष्य में पायी जानेवाली स्वतंत्र शक्ति ही उसका कारण है. अर्थात कर्म करते समय में वह स्वतंत्र है। उसी के साथ विचारशील। संज्ञानीय होने के कारण पुनर्परीक्षण-निरीक्षण करने के लिए बाध्य होता है क्योंकि सुख की आशा में ही वह सम्पूर्ण कर्म करता है जिससे विपरीत ही फल होते हैं यही विपरीतता पीड़ा का कारण होती है. पीड़ा से मुक्ति के लिए प्रयास होना मनुष्य में पाई जाने वाली एक स्वाभाविक प्रक्रिया है. इस प्रकार मनुष्य में स्वयं के विकास की अनिवार्यता एवं उसके लिए प्रयास की संभावना स्पष्ट है.

इसी तथ्यवश मनुष्य का प्रकाशन ~~का~~ त्रात्रय में होता है अर्थात अमानवीयता, मानवीयता एवं अति मानवीयता के रूप में होता है जो प्रामाणिक है। इस प्रकार मनुष्य के प्रकाशन की सम्भावना का विस्तार ही मनुष्य के स्वतंत्र शक्ति का उपयोग करने के लिए कार्यक्षेत्र हुआ. त्रात्रय से अधिक मनुष्य का प्रकाशन नहीं है. मनुष्य अमानवीयता की सीमा में सामाजिक नहीं होता. पशुमानव और राक्षस मानव सामाजिक रेखा में नहीं है इन दोनों की सीमा हिंसक एवं अहिंसक ही है। इसे जीवों में भी देखा जाता है. इससे स्पष्ट होता है कि अहिंसक होने मात्र से ही वह सामाजिक नहीं हो जाता. यही सफलता हमें सामाजिकता के लिये सामाजिकता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए मानव के स्वभावगुण अति मानवीयता से सम्पन्न होने के लिये. साथ ही पर्याप्त अध्ययन करने के लिए बाध्य करती है इस वर्तमान में यह एक ऐसे बिन्दु के रूप में उपस्थित है जो सुदूर काल से मनुष्येतर प्रकृति अर्थात जीवावस्था, प्राणावस्था, पदार्थावस्था की प्रकृति का अध्ययन परीक्षण निरीक्षण एवं सर्वेक्षण प्रक्रिया जिसका प्रयोजन व्यवसाय प्रविधि के रूप में सिद्ध हुआ. जिससे मनुष्य की कार्य, व्यवहार गति नहीं अथवा उसके लिये वह सहायक हुआ. मनुष्य द्वारा मनुष्य की अध्ययन करने में असमर्थतावश या न्यूनतावश व्यवहार गति के साथ उसका मिलन होना संभव नहीं हुआ जिसके फलस्वरूप जीवनता में तृप्ति नहीं मिली, साथ ही राष्ट्रीयता एवं सार्वभौमिकता सिद्ध नहीं हुई. व्यवहार गति का तात्पर्य सामाजिकतापूर्ण व्यवहार पद्धति से है.

जबकि इस वर्तमान में व्यवस्था क्रम में, ये केन्द्रीकरण शक्ति युद्ध,
शोषण, वंचना, प्रवंचना कार्य में प्रयुक्त हो रहे हैं. स्पष्ट है कि उक्त प्रकार का
व्यय फलतः अमानवीयता सिद्ध हो चुका है आगे यह ऐतिहासिक तथ्य स्पष्ट होता
है कि मानवीय सामाजिकता से समृद्ध होने के पहले ही व्यवस्था एवं संस्थाओं
का उपक्रम किया. इसके परिणाम में निरायतनों के अनुरूप सम्पदा को
स्थापित करने के लिये प्रयास हुआ. पहले से सामाजिकता का सार्वभौम
रूप स्पष्ट न रहने के कारण यह प्रयास व्यक्तिगत तथा व्यक्ति केन्द्रित विचार
लोगों में विभाजित हुआ. इसे वस्तु पूर्ण प्रभावशील करने पर मनुष्य आतंक
और विशिष्टता को पकड़ने के लिये बाध्य हुआ. इसी को प्रलोभन पूर्वक
उत्प्रेरित किया फलस्वरूप वह कुभोग और अतिभोग में प्रमत्त होने के
लिए बाध्य हुआ. फलतः निराशा और कुंठा व्यापी (व्याप्त हुई). उक्त प्रकार
उक्त दोनों क्रियाओं से किया गया प्रयास सार्वभौम सामाजिकता को
सिद्ध नहीं कर पाया. इसके विपरीत व्यवस्था संस्थाओं द्वारा भय, आतंक,
संशयता, कुण्ठा और निराशा का उन्मूलन करने की घोषणाएं निरर्थक
सिद्ध हुई - इस विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य सामाजिकता
पूर्वक ही साधनों एवं संसाधनों का सदुपयोग करेगा. अमानवीयता
का तात्पर्य ही है अर्थ की अपव्ययता और असुरक्षा. अपव्ययता
अतिभोग, कुभोग और अनावश्यक एवं विध्वंसकारी कार्यों में
सिद्ध होती है. असुरक्षा भय, आतंक, संशयता में सिद्ध होती है. यही
अमानवीयता का आचरण स्वरूप है. इस सीमा में कोई व्यक्ति
परिवार, समुदाय देश राष्ट्र संतुष्ट नहीं हो पाया. यही सार्वभौम
मानवीयतापूर्ण सार्वभौम सामाजिकता के लिए उत्प्रेरित करता है
क्योंकि मानवीयता ही मानव के लिये एक मात्र शरण है और यही
मानव की स्वभाव गति है. यही मानवीयता की प्रतिष्ठा है -
सामाजिकता ही विवेक और विज्ञान के रूप में प्रकाशित होती
है. विज्ञान विश्लेषणात्मक एवं विवेक विवेचनात्मक ज्ञान है जिसका
अधिकारी मनुष्य ही है. विज्ञानात्मक ज्ञान कालवादी, क्रियावादी एवं
निर्णयवादी ज्ञान को प्रकाशित करता है. काल भूत, भविष्य, वर्तमान
के भेद से क्रिया प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम के भेद से तथा निर्णय
कारण, गुण, गणित के भेद से प्रकाशित है जबकि विवेक आत्मज्ञान
आत्मा का अमरत्व, शरीर का नश्वरत्व एवं व्यवहार के नियम की
विवेचना है - विवेचनात्मक ज्ञान से स्वभाव एवं सामाजिक मूल्य
को अध्ययन सुलभ होता है. विज्ञानात्मक ज्ञान भौतिकीय एवं
रासायनिक क्रिया कलाप को विश्लेषित करता है जिससे
व्यवसायिक मूल्य एवं आर्थिक
सामाजिक गति के अर्थ में ही व्यवसाय मूल्य चरितार्थ होता है
क्रान्ति चक्र की सदुपयोगिता सिद्ध होती है. जीवन सिद्ध हुआ है.
अर्थ की सदुपयोगिता ही समृद्धि का प्रधान कारण है - धन की अपव्ययता
क्यों कि "जो जिसका अपव्यय करता है वह उससे वंचित
हो जाता है" सदुपयोगता विवेकशील या विवेकपूर्ण
व्यवहार व आचरण, शिक्षा, दीक्षा, संस्कार, सिद्धांत, साधना एवं
विधि व्यवस्था में सफल होती है.

विवेक हीन विज्ञान मानवीयता को स्थापित करने के लिए समर्थ नहीं हुआ
इन तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि विवेक और विज्ञान की शिक्षा एवं व्यवहार
कृतियों को अपनाना ही एकमात्र विकल्प है.

"मनुष्य सही में एक गलती में अनेक" है. जैसे जब गणित की पढ़ाई
शुरू होती है उस समय विद्यार्थियों के द्वारा गलती करना देखा जाता है
जब बच्चे सही करना सीख जाते हैं तब सभी बच्चों का उत्तर एक ही होता है
जबकि गलती करते समय भिन्न भिन्न प्रकार से गलती करते हुए देखे जाते हैं. इससे
प्रमाणित होता है कि मनुष्य सही में एक गलती में अनेक होता है. इसप्रकार
प्रत्येक वाद विवाद के मूल में दोनों पक्षों अथवा एक पक्ष के द्वारा गलती
करना सिद्ध होता है. जीवन के अध्ययन जीवन से संबंधित जिन परिप्रेक्ष्यों
में यथार्थता का अध्ययन हो चुका है उन बिन्दुओं के संदर्भ में कोई
वाद-विवाद नहीं होता. जिन परिप्रेक्ष्यों का अध्ययन नहीं हुआ है उन्हीं
के संदर्भों में विवाद होता है. इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जीवन
तथा जीवन से सम्बन्धित सभी परिप्रेक्ष्य कोण, आयाम एवं दिशा के
सम्बंध में स्पष्ट अध्ययन एक अनिवार्यता है. मनुष्य में चार आयाम देखे
जाते हैं. वे व्यवसाय व्यवहार विचार एवं अनुभूति हैं. चैतन्य शक्तियों से ही
जीवन प्रमाणित होता है. वह आशा विचार इच्छा संकल्प एवं अनुभूति हैं.
मनुष्य के जीवन गति के संबंध में दिशाएं दो ही ओर हैं - ह्रास और विकास.
यही गुणात्मक विकास एवं ह्रासात्मक विकास के रूप में स्पष्ट है.

कोण:- जीवन का दृष्टिकोण प्रियाप्रिय, हिताहित, लाभालाभ,
न्याय-अन्याय, धर्माधर्म, सत्यासत्य ही है.

परिप्रेक्ष्य:- व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र एवं अन्तर्राष्ट्र ही होते हैं.

मनुष्य के जीवन का लक्ष्य सुख, शांति, संतोष और आनंद है जो
स्वयं में समाधान एवं अभय निरन्तरता है. जन्म लक्ष्य समृद्धि एवं
सह अस्तित्व है और स्वयं में सामरस्यता है. जीवन लक्ष्य विहीन जन्म लक्ष्य
सफल नहीं होता. जीवन लक्ष्य के साथ ही जन्म लक्ष्य सफल होता है.
जीवन ही जन्म का धारक है - क्योंकि जीवन नित्य एवं जन्म-मृत्यु एक घटना
है. जीवन एक चैतन्य इकाई में ही स्थापित होता है
अर्थात एक परमाणु गठनपूर्ण होता है उसी समय अमर जीवन पद में
पाता है. इसी अध्ययनवश चैतन्य शक्ति का अर्थात चैतन्य इकाई
में प्रकाशित होने वाले आशा विचार इच्छा और संकल्प तथा अनुभूति
की अक्षयता सिद्ध हुई है. इन शक्तियों का कितना भी प्रयोग किया
जाए क्षय नहीं होती. ये शक्तियां शरीर के माध्यम से प्रवृत्ति
होती है. उनका साक्ष्य शरीर के द्वारा सम्पन्न होने वाले व्यवहार एवं
व्यवसाय है। विचार शुद्धि के अभाव में मनुष्य के द्वारा व्यवसाय
एवं व्यवहार सम्पन्न नहीं होता. मनुष्य इन शक्तियों के
संकेतानुसार संचालित होने तक शरीर की स्वस्थता प्रमाणित
होती है. इसके विपरीत में अस्वस्थता एवं अयोग्यता सिद्ध होती है.
अयोग्यता की पराकाष्ठा ही मृत्यु के नाम से जानी जाती है. शरीर
का भौतिक एवं रासायनिक विरचनाकरण प्रक्रिया ही मृत्यु के रूप
में तात्पर्य है. शरीर के न होने मात्र से जीवन का अभाव नहीं
होता. इसका प्रमाण गठनपूर्णता ही है. गठनपूर्णता प्रक्रिया
विखण्डन से मुक्त हो जाती है. यह अमरत्व की प्रतिष्ठा है. यह
चैतन्य इकाई अपने आशा विचार इच्छा संकल्प एवं अनुभूति के द्वारा
शरीर को संचालित करता है.

चैतन्य इकाई अक्षय शक्ति शक्ति होने के कारण श्रम-शक्ति शील एवं जड़ शरीर के द्वारा अपनी शक्ति प्रकाशन करते हैं। ही शरीर से होने वाले कार्य-व्यवहार उसके स्वभाव शक्ति की मात्रा से अधिक होता है. इसी तथ्यवश मनुष्य अधिक उत्पादन कर उपभोग करने योग्य सिद्ध हुआ है जबकि उपभोग शरीर के द्वारा पोषण के लिये होता है जबकि चैतन्य इकाई से श्रम शक्तिशील होता है तथा उत्पादन चैतन्य इकाई के योगफल से संचालित होता है - इसी तथ्यवश उत्पादन अधिक होता है. यह तथ्य भी जीवन की नित्यता को स्पष्ट करता है. जीवन के साथ ही संस्कार साथ होते हैं क्योंकि सम्पूर्ण संस्कार आशा, विचार, इच्छा में ही आरोपित होता है. इसी सफलता उसी के अनुरूप व्यवहार एवं व्यवसाय सम्पन्न होते हैं। मनुष्य का व्यवहार मानवीय मूल्यों के अर्थ में ही चरितार्थ होता है. मानवीय मूल्य स्थापित सम्बन्धों में निहित स्थापित मूल्य और शिष्ट मूल्य ही है. यही सामाजिकता का प्रत्यक्ष रूप है. यह मानवीयता पूर्ण जीवन अथवा मानवीयता की सीमा में ही चरितार्थ होता है. अमानवीयतापूर्वक मानवीयता का संरक्षण या आचरण नहीं होता. सामाजिकता का न होना ही गलती और अन्याय है. गलती और अन्याय मनुष्य की वांछित उपलब्धि अथवा विकास में सहायक सिद्ध नहीं होती. यही सत्यता मनुष्य को सही करने के लिये एवं न्यायपूर्वक आचरण करने के लिए बाध्य करता है. न्यायपूर्ण आचरण में ही हम सह-अस्तित्व का अनुभव करते हैं फलतः अभयता सिद्ध होती है सही करने के फलस्वरूप ही समृद्धि का अनुभव करते हैं. फलतः समाधान सिद्ध होता है - यह मानवीय संस्कृति व सभ्यतापूर्वक आचरण, व्यवहार विधि एवं व्यवस्था पूर्वक ही चरितार्थ होता है. अमानवीयता पूर्वक न्याय के स्थान पर भय, समाधान के स्थान पर समस्या सह-अस्तित्व के स्थान पर असह-अस्तित्व एवं समृद्धि के स्थान पर असमृद्धि सिद्ध होती है. इन तथ्यों से यही निष्कर्ष निकलता है कि मानव मानवीयतापूर्ण जीवन में शरण लेना ही अथवा मानवीयतापूर्ण जीवन से समृद्ध हो जाना ही जीवनता एवं जीवन शांति में अनुप्राणित एवं विश्रान्त होने का एकमात्र, उपाय है.

"मनुष्य सही करने के अवसर सहित जन्म लेता है, अज्ञानवश गलती करता है"

४।४८। इस तथ्य को प्रत्येक व्यक्ति के जन्म के साथ देखा जा रहा है. गलती करने की अज्ञानता को सही करने के अधिकार में परिवर्तित करने की दो प्रधान व्यवस्थायें हैं। प्रथम अध्ययन व्यवस्था द्वितीय वातावरण व्यवस्था. वातावरण प्राकृतिक एवं वैकृतिक रूप में दृष्टव्य है. मनुष्येतर प्रकृति ही अर्थात् जीवावस्था प्राणावस्था एवं पदार्थावस्था से मिलने वाले दबाव एवं प्रेरणा ही प्राकृतिक वातावरण का तात्पर्य है. वैकृतिक वातावरण का तात्पर्य: प्रकाशन प्रचार, प्रदर्शन, शिक्षा एवं व्यवस्था से है. व्यवस्था ही राज्यनीति एवं धर्मनीति के रूप में स्पष्ट है. इन दोनों व्यवस्थाओं की एकसूत्रता में संतुलित वातावरण, इनके परस्पर विरोध में असंतुलित वातावरण होना स्वभाव सिद्ध तथ्य है. धर्मनीति एवं अर्थनीति का संतुलन ही राष्ट्रीयता का प्रत्यक्ष रूप है. अर्थ का सदुपयोग एवं सुरक्षा ही इन दोनों का रक्षा नीतियों का ... लक्ष्य होने के कारण जीवनता ...

यही सर्वमानव का अभीष्ट है. इसके विपरीत में ही युद्ध, आतंक आदि
अनिष्ट घटनाएं होती हैं. इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि
प्रधानतः राजनीतिक एवं धर्मनीतिक व्यवस्था ही मनुष्य में
अथवा प्रत्येक मनुष्य में सही करने की योग्यता को प्रस्थापित करने
के लिए होती है. बच्चों को पढ़ाते समय यह देखा जाता है कि अध्यापक,
सही पढ़ाते हैं परन्तु बच्चे गलती करते हैं. गलती करने का गुण रूप
किसी के द्वारा सिखाया हुआ है. इसका उत्तर नकारात्मक ही होगा.
इस सर्वेक्षण से यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य जन्म से ही गलती
करता है और उसमें सही करने की ~~[illegible]~~ क्षमता
योग्यता, पात्रता को स्थापित करने का ~~[illegible]~~ दायित्व परिवार
में मिलने वाले संस्कार, सम्पर्क सम्बंधों में मिलने वाली प्रेरणा
शिक्षा संस्थानों में प्राप्त होने वाली शिक्षा और व्यवस्था की
क्षमता पर आधारित है. इन सबकी एकात्मकता ही ~~[illegible]~~
का द्योतक है. यह मानवीयतापूर्ण पद्धति से सम्बद्ध व्यवस्था, विज्ञान
एवं विवेकपूर्ण शिक्षा, मानवीय आचरणशील सम्पर्क सम्बंध और
मानवीय जाति, वंश, धर्म, नाम, संस्कार प्रणाली परिवार पूर्वक
चरितार्थ होते हैं. यही संतुलित वातावरण का अपेक्षित ध्येय है
मान कि विभिन्न जाति, मत, सम्प्रदाय, वर्ग. इस विश्लेषण से यह
स्पष्ट होता है कि प्रत्येक मनुष्य का संस्कार, अध्ययन एवं
वातावरण के अनुरूप ही परिवर्तित या परिमार्जित होता है.
मनुष्य के द्वारा होने वाली गलतियां व्यवसाय एवं व्यवहार
में साकार होती हैं. इसका मूल रूप विचार ही है क्योंकि विचार
के अनुरूप व्यवहार एवं व्यवसाय करता हुआ मनुष्य नज़र
देखा जाता है. इससे यह भी स्पष्ट होता है कि सही या गलती
करने वाला मूल तत्व, आशा, विचार, इच्छा एवं संकल्प ही है.
इन्हीं आशा, विचार, इच्छा, और संकल्प में गुणात्मक परिवर्तन
होना ही व्यवहार में न्याय प्रदायी क्षमता, व्यवसाय में नियम
सहित सही करने की योग्यता के रूप में प्रमाणित होता है.
इस प्रमाण के मूल रूप विचार एवं अनुभूति ही होने के कारण
अनुभव ही न्याय प्रदायी क्षमता के रूप में और समाधान ही
निष्ठा पूर्वक व्यावसायिक क्षेत्र में सही करने की दक्षता को
स्थापित करता है. इस प्रकार मनुष्य के चारों आयाम संतुष्ट
अथवा अति संतुष्ट होने की संभावना ही सही करने की स्वाभाविकता
है. यही संज्ञानीयता अधिकार है एवं इसके लिए संभावना है.
इसी स्वभाववश संस्कार परिवर्तन होता है. विगत में
किये गये अनेक जाति, मत, सम्प्रदाय, परम्परायें, सामाजिकता
को पाने में असमर्थ रही हैं. इसी सत्यतावश मानवीय
चेतना वादी परम्परा के लिये ~~[illegible]~~ प्रस्तुत हुआ है. यही
राष्ट्रीयता का आधार है. राष्ट्रीयता ही परिवार, ग्राम, [illegible]
अखंड [illegible] में [illegible] मानवता का साक्षात् स्वरूप है.

विग्रह = नाश — निग्रह = युद्ध 46

अनेकता में हम गलती करने के लिए बाध्य होते हैं जो अज्ञानता का द्योतक है. व्यवस्था ज्ञान प्रमाण करने के लिए है ना कि अज्ञान.

"अर्थ की सदुपयोगात्मक नीति ही धर्म नीति और सुरक्षात्मक नीति ही राज्यनीति है" — अर्थ, तन, मन और धन के रूप में प्रत्यक्ष है. उत्पादन नीति पर ध्यान, शिष्टता के आधार वर्तन और स्थापित मूल्यानुमोदित मति अर्थात विचार का सदुपयोग होना प्रमाणित होता है क्यों कि स्थापित मूल्यानुमति की गरिमा ही शिष्ट मूल्य को प्रकाशित करती है. स्थापित मूल्यानुमति के अभाव में शिष्टता की सम्भावना नहीं हो पाती. यह अज्ञान का ही द्योतक है. शिष्टता न होने की स्थिति में अशिष्टता का होना स्वाभाविक है शिष्टतापूर्वक ही धन का सद्व्यय होता है अर्थात सद्व्ययतावादी स्थिति - विचार, आकांक्षा एवं आवश्यकता के आधार पर उपयोग, उपभोग और वितरण होता है. यह सद्व्ययता की रेखा है अन्यथा अज्ञानपूर्वक अतियोग एवं दुरुपयोग, शोषण, 'विग्रह, निग्रह' में अर्थ का व्यय होता है यही असामाजिकता की सीमा रेखा है. यही अपव्यय है. अपव्ययतापूर्वक सुरक्षा सिद्ध नहीं होती. क्योंकि सुरक्षा सदुपयोग के लिये, सदुपयोग सुरक्षा के लिये अनन्य तथ्य है. तथ्य का उल्लंघन नहीं होता. यदि उल्लंघन नहीं होता है तो वह तथ्य है. इसी प्रकार विश्व सदुपयोग से दुरुपयोग का, दुरुपयोग से सदुपयोग की अर्थ निष्पत्ति नहीं होती. यही नियम प्रत्येक कार्य व्यवहार में उदाहरण स्वरूप है. इसका निष्कर्ष यही निकलता है कि शिष्ट मूल्य में व्यवसाय मूल्य का स्थापित मूल्य में शिष्ट मूल्य का समर्पण अर्पण एवं अनुसरण प्रक्रिया ही सदुपयोगिता का प्रमाण है। सदुपयोग के साथ सुरक्षा का होना एक स्वाभाविक सिद्ध तथ्य है. सदुपयोगिता एवं सुरक्षात्मक ज्ञान मनुष्य में पाई जाने वाली सामाजिकता की निष्पत्ति है. क्योंकि जब मनुष्य एक से अधिक एकत्रित होता है. समाज बन जाता है. फलतः आवश्यकताओं को स्वीकार करता है. परिणामतः व्यवसाय एवं प्रयोग करता है जिसके प्रतिफल में अर्थोपार्जन होता है. सामाजिकता के साथ व्यवहार होता है. प्रत्यक्ष अर्थ का प्रत्येक मनुष्य सदुपयोग एवं सुरक्षा करना चाहता है. इसी क्रम में प्रत्येक मनुष्य सुरक्षा एवं सदुपयोगिता का निर्णय अपनी प्रबुद्धता के अनुरूप लेता है. इसी क्रम में अनेक मतों का होना एक स्वाभाविक तथ्य सिद्ध हुआ है.. यही अनेकता पुनर्विचार करने के लिये बाध्य करता है क्योंकि मनुष्य सही में एक गलती में अनेक है इस तथ्य से यह स्पष्ट होता है कि अर्थ का सदुपयोग एवं सुरक्षा के सम्बन्ध में वास्तविकताओं को उद्घाटित करने में सोच ही अस्पष्ट करने में त्रुटि है. यदि त्रुटि हीन न होता तो अनेक मत के स्थान में एक मत होता. वर्तमान में मानव अनेकता से उत्पन्न अनिष्टों का अनिवार्यपूर्वक अस्वीकृत स्थिति से भोग रहे हैं. क्योंकि अनिष्ट मानव की वांछित घटना व इष्ट नहीं है. अनिष्ट का प्रतिरोध करता जाता, असहअस्तित्व, मार-काट और ... यही सामाजिक असफलता है. यही अव्यवहार, अमानवीयता है. जो सदुपयोग एवं सुरक्षा के आधार पर मानवीयता को सदुपयोग करने-

तद्नात्मक व्यक्ति में आचरण, परिवार में सहयोगिता, समाज में प्रोत्साहन, राष्ट्र में सुरक्षा एवं अन्तर्राष्ट्र में अनुकूल परिस्थितियों को स्थापित करने की परम आवश्यकता है।

अस्तित्व और उपलब्धियों की गंभीर विश्लेषणात्मक व्याख्या - श्रम.

२५/११/८१ : "सामाजिकता का प्रधान लक्षण सह-अस्तित्व है" - सह-अस्तित्व में पाया जाने वाला शाश्वत सत्य है जो कि नियम से संयुक्त प्रकृति इकाइयों में नियंत्रणशील है। मनुष्य के लिये अध्ययन का आधार केवल अस्तित्व ही है। अस्तित्व अविभाज्य एवं क्षय से मुक्त होने के कारण, अस्तित्व को ही पूर्णता या समग्रता की भाषा से इंगित कराया जाता है। मानव में, से, के, लिये, संवेदनशीलता संज्ञानीयता की मात्रा अपरिहार्य होने के कारण अर्थात् यथास्थिति ज्ञान से सम्पन्न होने की स्वयंस्फूर्त आवश्यकता मानव मात्र में पाये जाने वाली तथ्य है, जिसके आधार पर ही प्रत्येक इकाई में आरम्भ एवं अभिव्यक्ति तथा निर्वाह क्षमता, योग्यता, पात्रता का होना नियति-नियंत्रित विधि (प्रकृति) है। इस तथ्य के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि विकास के क्रम में प्रस्तुत मानव संज्ञानीयता वश अथवा संज्ञानीयता की अभिव्यक्ति वश ही सामाजिकता के लिये उत्सुक है। "सामाजिकता प्रवृत्ति के अर्थ में अर्जन, उपार्जन करने की निर्विवादपूर्ण सम्भावना है।"

अर्जन एवं उपार्जन मनुष्य में क्षमता, योग्यता एवं पात्रता के रूप में प्रकाशित है। यही क्षमता, योग्यता, पात्रता तन, मन, धन के रूप में गण्य होती है। यही अमानवीयता, मानवीयता एवं अतिमानवीयता के रूप में स्पष्ट होती है। मनुष्य जीवन में पूर्णता की स्थिति, क्रियापूर्णता एवं आचरणपूर्णता के रूप में स्वीकृत है। जिसका विश्लेषण यही है। अस्तित्व में [illegible] प्रकृति का विकास के क्रम में गठनपूर्णता, क्रियापूर्णता एवं आचरणपूर्णता सहज सत्य होने के यही रूप में व्यवस्था है। ऐसी व्यवस्था का अध्ययन करने की क्षमता अर्थात् प्रति दर्शन क्षमता अथवा दर्शन क्षमता मानव में होनी पाई जाती है, यही संज्ञानीयता का लक्षण है। संज्ञानीयता ही दर्शन क्षमता में चरितार्थ होती है। संवेदनशीलता शिष्टता में चरितार्थ होती है। दर्शन क्षमता स्वयं में मूल्यानुभूति एवं अनुभूति है - मूल्यानुभूति की तीनों विधा स्पष्ट हो चुकी हैं। अनुभूति का तात्पर्य पूर्णता अथवा व्यापकता के संदर्भ में निर्भ्रम होते हैं। अनुभूति अनन्त में व्यापकता में स्थापित हो जाती है। फलस्वरूप मैं चरितार्थ एवं स्थापित होता है।

अनुभव क्षमता का विकास ही गुणात्मक विकास है- प्रत्येक मनुष्य में किसी न किसी अंश में अनुभव क्षमता पाई जाती है। फलस्वरूप, अनन्त एवं व्यापकता में अनुभूत होने की सम्भावना नित्य समाहित पाई जाती है। यह सम्भावना प्रत्येक मनुष्य के लिये समान है, साथ ही प्रत्येक मनुष्य की क्षमता, योग्यता एवं पात्रता अन्तराल होना पाया जाता है। इसी वश प्रत्येक मनुष्य में अथवा अशेष मानव में समान एवं सामान्य क्षमता के स्थापित होने अथवा निर्मित होने की अनिवार्यता सामाजिकता के अर्थ में स्पष्ट होती है। सामाजिकता की अनिवार्यता प्रत्येक मनुष्य में एक सहज वांछा है। वांछा का तात्पर्य वहन पूर्वक अभिव्यक्त होने की पीड़ा है। प्रत्येक पीड़ा स्वयं में मानसिकता है। मानसिकता का प्रावर्तन ही व्यवहार है। प्रत्यावर्तन ही अनुभूति है। कोई ऐसा मनुष्य नहीं है जिसमें परावर्तन एवं प्रत्यावर्तन क्रिया नहीं होती हो। सम्पूर्ण परावर्तन एवं प्रत्यावर्तन के मूल में आशा, आकांक्षा

विचार, इच्छा, चिंतन, संकल्प, निर्णय एवं अनुभूति की ही पूरी पाई जाती है. क्योंकि मनुष्य का मूल मर्म रूप ही मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि एवं आत्मा संयुक्त स्वरूप है. इन्हीं का प्रकाशन क्रम से आशा, विचार, इच्छा, संकल्प एवं अनुभूति की गति से अभिहित होता है. इस तथ्य के आधार पर मनुष्य में होने वाली क्षमता, योग्यता, पात्रता का गुणात्मक परिवर्तन अथवा विकास दार्शनिक क्षमता में प्रतिबिंबित होकर सामाजिकता की योग्यता को प्रकाशित करते हैं.

"सामाजिकता ही स्वयं में राष्ट्रीयता है।"

23 / 24|11|81 राष्ट्रीयता का प्रधान अंग उन्मादत्रयता, ज्ञानवादिता एवं क्रांतिकारिता है. उन्मादत्रयता, ज्ञानवादिता के लिए, [illegible] क्रांतिकारिता के लिए, क्रांतिकारिता उन्मादत्रयता के लिये पूरक तत्व है. इनके योगफल में, से, के, लिये, संस्कृति, सभ्यता, विधि, व्यवस्था होती है. उक्त तीनों वादिताओं में परस्पर पूरकता की स्थिति में सामरस्यता सिद्ध होती है. यही सामरस्यता ~~सिद्ध होती~~ संस्कृति, सभ्यता, विधि, व्यवस्था में व्याप्त होती है. सामरस्यता का तात्पर्य निर्विरोध पूर्वक एक से एक का गुणात्मक परिवर्तन की दिशा में सहयोगिता तथा सहकारिता होने से है. उन्मादत्रयता [illegible] अधिकार किसी न किसी अंश में होती ही है. प्रत्येक मनुष्य में स्वभावतः इन आकांक्षाओं होती हैं जिसको आठ बिन्दुओं में कह चुके हैं। ये दोनों मनुष्य में स्वभावतः होते हुए क्रांतिकारिता का अर्थात् विकास की स्पष्ट दिशा, पद्धति, सिद्धान्त और प्रक्रिया का पूर्ण अध्ययन सुलभ न होने का फल ही है. इन तीनों तत्वों के परस्परता में सामरस्यता का लाभ न होना. प्रत्येक मनुष्य सामरस्यता में, से, के, लिये, आकांक्षु, उत्सुक एवं बाध्य है. क्योंकि निर्विरोधिता ही सामरस्यता का प्रधान लक्षण है. यह [illegible] पूर्वक ही मनुष्य के द्वारा प्रकाशित होना पाया जाता है. दर्शनीयता, निपुणता, कुशलता एवं पांडित्य के अधिकृत्य करना नहीं है जीवन [illegible] लक्ष्य से ही सामरस्यता है. इसी तथ्यवश उसके लिये स्पष्ट दिशा आदि की अनिवार्यता मनुष्य में, से, के, लिये, होना एक स्वाभाविक तथ्य है. इसी तथ्य के आधार पर अर्थात वश प्रत्येक मनुष्य अज्ञात को ज्ञात करने तथा अप्राप्त को प्राप्त करने की दिशा में किसी न किसी अंश में प्रयत्न, यत्नशील होना पाया जाता है. इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि क्रांतिकारिता विहीन राष्ट्रीयता अर्थविहीन अथवा अनर्थकारी सिद्ध हो जाता है. [illegible] का तात्पर्य प्रतिक्रांति से है. प्रतिक्रांति का तात्पर्य ह्रास से है. मनुष्य के ह्रास से तात्पर्य अमानवीयता से है. ह्रास-विकास ध्रुवीकरण विकास की अपेक्षा [illegible] है. यही स्थिति मानवीयता की अपेक्षा में अमानवीयता का, अति मानवीयता की अपेक्षा में मानवीयता, व्यापकता की अपेक्षा में अति मानवीयता की, अस्तित्व की अपेक्षा में प्रकृति का, [illegible] की अपेक्षा में विकास का, गठनपूर्णता, क्रियापूर्णता एवं आचरणपूर्णता की अपेक्षाओं गुणात्मक परिवर्तन का एवं चार प्रकार की सृष्टि का. इसे क्रम से पदार्थ, प्राण, जीव एवं ज्ञानावस्था की और मनुष्य की निवेदनशीलता एवं संवेदनशीलता की अपेक्षा में संस्कृति, सभ्यता, विधि एवं व्यवस्था का तथा मानवीयता एवं अतिमानवीयता की अपेक्षा में ही सामाजिकता का [illegible] एवं अनिवार्यता में आवश्यकता है-

इस तरह से यह स्पष्ट हो जाता है कि अस्तित्व में विकास स्वयं में क्रम है जो नियति के नाम से अभिहित है. यही क्रम मनुष्य में, ते, के, लिये अध्ययन का आधार तथा विषय उपलब्धि एवं लक्ष्य है. यही मनुष्य का प्रबोधन एवं उद्बोधन के लिये भी कथित है. इस प्रकार अज्ञात को ज्ञात करने की दिशा में स्वत्व, समाधान, स्वतन्त्रतापूर्ण स्थिति को पाते हैं: यही प्रबोध मनुष्य का अभीष्ट है. साथ ही नियतिक्रम का प्रकाशन है. नियति के अतिरिक्त और कोई क्रम न होने के कारण मनुष्य भी इसी क्रम शृंखला में घटित एक घटना है. इस घटना में जो संवेदनशीलता से संज्ञानीयता की यात्रा समाई हुई है तात्पर्य इच्छापूर्वक प्रयास समाई हुई है इसे सफल एवं चरितार्थ बनाने की दिशा में हम अध्ययन किया करते हैं। अतः मनुष्य की स्थिति मानवीयता होने के कारण निश्चित प्रतिष्ठा मानवीयता में, से, के लिये ही होता है न कि वर्ग, जाति, मत, सम्प्रदाय, देश, भाषा, नस्ल आदि के आधार पर.

मनुष्य का गुणात्मक विकास पशु मानव से राक्षस मानव, राक्षस मानव से मानव, मानव से देव मानव, देवमानव से दिव्य मानव है. पशुता एवं राक्षसीयता अज्ञान का द्योतक है अज्ञान का तात्पर्य न्याय प्रदायी क्षमता, सही करने की योग्यता में अपूर्णता, न्यूनता, अथवा अविकास से है. अज्ञान का कोई अस्तित्व न होते हुए अक्षमता अयोग्यता एवं अपात्रता की स्थिति को अज्ञान के बोधक शब्द से इंगित किया गया है क्योंकि स्थिति अनन्त एवं व्यापक है एवं शब्द सीमित है. सीमित में असीम का समाना नहीं होता है इसलिये शब्द का प्रसारण प्रयोजनीयता में ही चरितार्थ होता है. जिस विशालता को प्रतीकात्मक शब्द द्वारा संप्रेषित करने पर उसकी ग्राह्यता के आधार पर स्वीकृत होना मनुष्य में स्पष्ट है. इसी क्रम में यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्पूर्ण शब्द किसी क्रिया अथवा स्थिति को निर्देशित या इंगित कर देना ही उसकी चरितार्थता या प्रयोजनीयता है. इस प्रकार भाषा का महत्व स्पष्ट हो जाता है अतः अध्ययन के लिये भाषा, माध्यम होते हुए वास्तविक स्थिति तथा उसका व्यवहार अर्थात् श्रम, गति, परिणाम और फल प्रयोजन ही अध्ययन का विषय है. इन्हीं तथ्यों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अमानवीयता अर्थात् पशुमानव एवं राक्षस मानव की स्थिति में सामाजिकता सिद्ध नहीं होती क्योंकि उन दोनों स्थितियों में न्याय प्रदायी क्षमता एवं सही करने की क्षमता का विकास नहीं होता है. अतः यह सामाजिकता के लिये प्रयोजनीय स्थिति सिद्ध नहीं होती जबकि यह किसी न किसी अंश में मनुष्य में होना होता है इस स्थिति दर्शन से हमें निर्देश होता है कि गुणात्मक संस्कार पूर्वक जन्म से ही देखे जाने वाली अक्षमता अर्थात् न्याय प्रदायी में अक्षमता अर्थात् न्याय प्रदायी में अक्षमता को सक्षमता में, अज्ञानवश गलती करने की योग्यता को सही करने की योग्यता में परिवर्तित कर देना ही संस्कारों का स्वरूप है.

यही संस्कार, संस्कृति के रूप में अंकित होता है. यही व्यवहार के स्तर में सभ्यता को प्रकाशन करती है. यही संस्कृति आचरण में [illegible] [illegible] के लिये ही विधि व्यवस्था को [illegible] एवं अध्ययन व्यवस्था एवं प्रक्रिया है.

२४।११।८१ "प्रबुद्धता ही सामाजिकता है" :—

प्रबुद्धता का प्रमाण अर्थात् प्रबुद्धता निर्णय का अभ्यास [illegible] आचरण में और भविष्य की योजना में चरितार्थ होता है. प्रबुद्धता का प्रयोजन वर्तमान में ही है. प्रबुद्धता ही चैतन्य शक्तियों की संयुक्त रूप है जो आशा, विचार, इच्छा और संकल्प और अनुभूति का है। अनुभव शक्ति प्रधान परम है अनुभव ही प्रमाण परम ही है यही [illegible] की उपलब्धि है. यही जीवन का [illegible] एवं प्रमाण [illegible] अनुभव पूर्वक ही होता है. अनुभव की परावर्ति में अर्थात् अनुभव का बोध और स्मरण, अनुभव का ही चिंतन एवं इच्छा, अनुभव का ही विचार एवं आस्वादन तथा अनुभव का ही आस्वादन एवं आशा [illegible] सहज आनंद एवं प्रबुद्ध स्थिति में जीवन की चरितार्थता पाई जाती है. इस प्रकार प्रबुद्धता पूर्ण [illegible] [illegible] स्पष्ट होता है. [illegible] निर्णय होता है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रबुद्धता पूर्वक ही [illegible] होता है [illegible] अर्थात् [illegible] को प्राप्त करता है [illegible] मनुष्य की [illegible] उपलब्धि [illegible] इस तथ्य से मानव के लिये प्रबुद्धता ही [illegible] कारण है. प्रबुद्धता प्रामाणिकता में निरंतर है. यही उसका प्राणतत्व है. प्रामाणिकता ही सामाजिकता है. सामाजिकता को देखा नहीं [illegible]. प्रामाणिकता विहीन स्थिति में सामाजिकता की निरन्तरता सिद्ध होती है. प्रामाणिकतापूर्ण जीवन में ही पीढ़ी से पीढ़ी मनुष्य की वांछित उपलब्धि [illegible] है. अप्रामाणिकता स्वयं में समाधान [illegible] नहीं है. समस्या मानव की इच्छित [illegible] नहीं है. प्रबुद्धता स्वयं [illegible] है. मानव में विरोध की आवश्यकता सिद्ध नहीं है. प्रबुद्धता सह अस्तित्व है. [illegible] सह अस्तित्व मानव का अभीष्ट [illegible] है. प्रबुद्धता पूर्वक ही संस्कार परम्परा सामाजिकता की [illegible] सिद्ध होती है. इसके विपरीत में पाये गये [illegible] [illegible] प्रबुद्धता स्वयं में [illegible] है. [illegible] मानवीयता को [illegible] होना आवश्यक है जिसके [illegible] अवधारणा के बिना आचरण में [illegible] सिद्ध होता [illegible] का अनुभव [illegible] मनुष्य में अवधारणा के रूप में देखा जाता है. [illegible] सामाजिकता के लिये एक अनिवार्य क्षमता है. ऐसी क्षमता को निर्मित करने की प्रक्रिया में ही शिक्षा चरितार्थ होती है. संस्कार मनुष्य में अवधारणाओं के रूप में प्रतिष्ठित एवं प्रकाशित होती है. शिक्षा संस्कार के लिये अति महत्वपूर्ण किन्तु हैं परिवार के [illegible] जाति, धर्म [illegible] [illegible] होता पाया जाता है.

नाम संस्कार व्यक्ति के पहचान के अर्थ में, जाति संस्कार मानव जाति (कुल) के अर्थ में धर्म संस्कार मानव धर्म के अर्थ में, कर्म संस्कार सामाजिकता अर्थात मानवीयता के अर्थ में अखंड सामाजिकता सिद्ध होता है. अन्यथा वर्ग पाखंड की स्थिति में विखंडित होना देखा जाता है। परिवार प्रबुद्धता का परिचय नाम, जाति, धर्म, कर्म-संस्कार प्रदायिता में, समाज की प्रबुद्धता सह अस्तित्व में, राष्ट्र की प्रबुद्धता शिक्षा और व्यवहार में, अन्तर्राष्ट्र की प्रबुद्धता अभयता में चरितार्थ होती है. यही सर्व मानव की वांछित समृद्धि एवं समाधान का एक मात्र लक्ष्य, उपाय एवं उपलब्धि है। इनमें से कोई भी कड़ी विघटित होने पर अखंड सामाजिकता को पाना सम्भव नहीं है. समाज के विखंडन की स्थिति में समृद्धि में भी असमृद्धि, समाधान में भी समस्या, सह अस्तित्व में भी असह अस्तित्व, अभय में भी असह अस्तित्व, अभय में भी भय प्रतीत होने लगते हैं. यही प्रतीतियाँ भ्रम या अज्ञान के नाम से अभिहित होती है. इनका अस्तित्व न रहते हुए मृगतृष्णा मरीचिका के सदृश्य भाव होना पाया जाता है. अस्तित्व विहीन कल्पना ही भ्रम है अथवा अज्ञान है. अस्तित्व विहीनता का तात्पर्य ही गलती है जिससे विद्यार्थी को शिक्षा पीढ़ी व अनुभवानुसार उनसे होने वाली गलती से स्पष्ट हो जाता है. इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि अध्ययन जो कुछ भी होता है वह केवल अस्तित्व में, से, के, लिये है. इसी तरह अस्तित्व विहीन कल्पना अथवा प्रत्याशा स्वयं में पीड़ा के रूप में व्यक्त होती है क्योंकि ये सब पद्धति में ही अन्त होते हैं: अस्तित्व जैसा है उसे वैसे ही ग्रहण की जाने की क्षमता ही प्रबुद्धता है. ऐसी क्षमता को निर्गमित करने के क्रम को सभी स्तरों में अर्थात परिवार, समाज, राष्ट्र एवं अन्तर्राष्ट्र के स्तर में प्रबुद्धता से परिपूर्ण होना एक अनिवार्यतम आवश्यकता है क्योंकि जिसके <u>पास जो रहता है वह उसी का वितरण किया करता है</u>" इस तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि अभी तक उक्त चारों स्तर में जो कुछ भी था उसी का ही वितरण करते आये फलतः वर्तमान का सृजन हुआ. इस वर्तमान में उक्त चारों स्तरों में भय छाया हुआ दिखाई दे रहा है उसी के प्रतिदान में शोषण विग्रह निग्रह युद्ध एवं आतंक आदि अवांछनीय घटनाग्रस्त होने के लिये उन्मुख होता हुआ दिख रहा है. इस सबसे विकल्पात्मक स्थिति की आवश्यकता स्वभावतः स्पष्ट हो जाती है. प्रबुद्धता पूर्वक ही अमानवीयता मानवीयता एवं अतिमानवीयता स्पष्ट होती है. साथ ही अमानवीयता पूर्वक सामाजिकता का न होना, मानवीयता पूर्वक सामाजिक होना, अतिमानवीयता पूर्वक स्वतंत्रता से सामाजिक होना एक वस्तुगत सत्य के रूप में निर्णय हो जाता है. जीवन के सभी आयाम, कोण एवं परिप्रेक्ष्य निर्णय समृद्ध होना प्रबुद्धता का द्योतक है. यही ~~[illegible]~~ निर्णय परावर्तित होकर सामाजिकता में अभिव्यक्त होता है क्योंकि अनिर्णय सामाजिक नहीं होता अपितु प्रबुद्धता ही सामाजिकता सिद्ध होती है.

28/11/81 प्रत्येक परामर्श की स्थिति में विकल्प ही एक मात्र शरण होता है. विकल्प की स्थितियों के अनुसार ... परामर्श की आवश्यकता ...

अथवा परिवर्तनकारी घटनाओं के लिये/परिवर्तनकारी घटनाओं में परिवर्तित होने के लिये अनिवार्यतया अध्ययन एवं आचरण के अर्थ में होता है. अनिष्ट एवं बाधककारी घटनाओं से बचना या हटना से कोई उसका परिहार सिद्ध नहीं हुआ, क्यों कि कालान्तर में पुन: वह बाधक स्वयं ही प्रतिशोध, प्रतिहिंसा के रूप में प्रस्तुत होता है. इसके लिये अनेक साक्ष्य ऐतिहासिक एवं व्यवहारिक रूप में स्पष्ट हो चुके हैं जैसे किसी एक व्यक्ति परिवार या वर्ग, किसी अन्य व्यक्ति परिवार या वर्ग से दलित होने से उस समय में उसका बाधक सिद्ध हुआ कालान्तर में वही प्रतिशोध की भावना से पूर्व में जिससे वह दलित हुआ था उसे दमन करने के लिए वह दौड़ता है. इस क्रम में हिंसा का प्रतिहिंसा, शोषण का प्रतिशोषण दलन व दमन का प्रतिदमन ऐतिहासिक रूप में देखने को मिला है. ऐतिहासिक घटनाएं वर्तमान के लिये आधार या प्रेरणा स्रोत हैं ये प्रेरणाएं अर्थात ऐतिहासिक प्रेरणाएं दो प्रकार से मनुष्य में प्रेरणाकारी सिद्ध हुई हैं प्रथम विगत के मनुष्य के द्वारा आचरित आदर्श एवं महत्वपूर्ण कार्य घटनाएं जिसके प्रति आदर, गौरव श्रद्धा पूर्वक अनुसरण करने के लिये अथवा उसकी ख्याति यों ही अनुस्मरित रखने के लिये यत्न, प्रयत्न एवं क्रियाशील होता है. दूसरा विगत में बीती हुई दुर्घटनाएं अर्थात युद्ध, विग्रह, निग्रह, शोषण, दलन, दमन, आक्रमणात्मक कार्य घटना से है. ऐसी घटनाओं का स्मरण पुन: द्रोह या विद्रोह के लिए आक्रमण एवं प्रत्याक्रमण के लिये शोषण या प्रतिशोषण के लिये, दमन या प्रतिदमन के लिये दलन या प्रतिदलन के लिये विग्रह, प्रतिविग्रह, निग्रह प्रति निग्रह के लिये योगदायी होता है. यह एक सांस्कृतिक आर्थिक एवं राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में होना पाया जाता है. इस प्रकार इतिहास की देन अतिरिक्त उक्त वर्णित प्रकार की घटनाओं का निरूपण होने के कारण उसकी देन उक्त प्रकार से स्पष्ट होती आ रही है उसमें से दूसरा मनुष्य के लिये अनिष्टकारी सिद्ध हुआ. इतिहास-रचना के इस कारण से यह स्थिति निर्मित हुई. इतिहास की चरितार्थता स्थिति और सम्भावनाएं मध्य में क्योंकि घटित घटना जीवन में पोषित होना आवश्यक था. यही सिद्ध ऐतिहासिक उपादेयता, उपयोगिता की अर्थ निष्पत्ति होने तथा न होने का कारण है. स्थिति ही तात्पर्य अस्तित्व से है. अध्ययन का आधार अस्तित्व ही है. अस्तित्व से अधिक अध्ययन नहीं होता

अस्तित्व के सम्बन्ध में अज्ञान रहने तक अध्ययन आधार सिद्ध नहीं होता है.
यही प्रबुद्धता का द्योतक होता है. प्रबुद्धता का तात्पर्य ही निर्भ्रमता है. निर्भ्रमता
का अर्थ है अस्तित्व के सम्बन्ध में पूर्णतः ज्ञात एवं प्रमाणित योग्य क्षमता. अस्तित्व
ही स्थिरता एवं धारणा के रूप में स्पष्ट है. अस्तित्व के साथ ही अथवा अस्तित्व
में ही नियतता रहती है. नियतता के अर्थ में ही व्यवस्था का धारणा होता है.
इस क्रम में यह स्पष्ट होता है कि अस्तित्व अस्तित्व में, के लिए ही है.
अस्तित्व में प्रयोजन अपने आप समाया हुआ रहता है. जैसे "सत्ता में सम्पृक्त
प्रकृति ही अस्तित्व समग्र है" अस्तित्व स्वयं में अविनाशी क्रम से मुक्त है
क्योंकि है का नाश नहीं है तथा नहीं है की उत्पत्ति नहीं है" सत्ता अरूपात्मक
अस्तित्व एवं प्रकृति रूपात्मक अस्तित्व है. यह स्वयं में (ही) परस्पर व्यवस्था
में है. क्योंकि अरूपात्मक अस्तित्व रूपात्मक अस्तित्व को [illegible]
अस्तित्व अरूपात्मक अस्तित्व को दहन, दमन अथवा नाश करने के लिए
चलन-चयन या क्रियाशील नहीं है. इसके विपरीत में अनादिकाल से
अनन्तकाल तक अस्तित्व की अक्षयता पाई जा रही है. अस्तित्व स्वयं में
अरूपात्मक एवं रूपात्मक होने के कारण अस्तित्व ही सहअस्तित्व सिद्ध हुआ है.
सह अस्तित्व स्वयं में सामरस्यता है. रूपात्मक अस्तित्व अर्थात प्रकृति
सत्ता में सम्पृक्त रहने के कारणवश ऊर्जामय है. ऊर्जामयता ही है क्रियाशीलता
अथवा सक्रियता. यह श्रम गति परिणाम के रूप में प्रकाशित है. स्पष्ट हुआ है. विकास
श्रम, गति, परिणाम का अर्थ ही विकास के रूप में [illegible] एवं लक्ष्य सिद्ध
ही स्वयं में अध्ययन के लिये अध्यायिता, विषय, वस्तु पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था एवं ज्ञानावस्था
हुआ है. ऐसा विकास ही क्रम से [illegible] इकाई है जो कि स्पष्ट हुआ चुका है इन्हीं
में प्रकाशित है. मनुष्य ज्ञानावस्था की इकाई है. संज्ञानीयता में परिवर्तित होती है.
में संवेदनशीलता गुणात्मक परिवर्तन पूर्वक व्यवहार एवं अनुभूति में
यही क्रम से परीक्षण, निरीक्षण, सर्वेक्षण, प्रयोग, [illegible]
चरितार्थ होता है. यह उनमें होने वाली दर्शन, प्रतिदर्शन, से चैतन्य प्रकृतियों
का सम्मिलित दृश्य है. इस प्रकार मनुष्य जड़ प्रकृति योग्य क्षमता, योग्यता, पात्रता-
चैतन्य प्रकृति संवेदनशीलता से संज्ञानीयता इस प्रकार प्रकृति का
के जीवन की चरितार्थ होना स्पष्ट होता है. आधार विहीन
[illegible] ही इतिहास का आद्यन्त आधार सिद्ध होता है. सिद्ध नहीं होगा. अध्ययन
इतिहास लक्ष्य या कार्यक्रम के लिए प्रेरणादायी, उचित-अनुचित
किसी लक्ष्य के प्रति न होने की स्थिति में विधि-निषेध विहीन अध्ययन से विद्वान भी भ्रमी
का मूल्यांकन नहीं होता फलतः दिशा लक्ष्य बहुतायत में देखा जा रहा है. ऐसे-
प्रकार हो जाना सिद्ध हो जाता है. जैसे वर्तमान में संख्या वृद्धि करते जा रहे हैं तथा
प्रत्येक दशक में हम विद्वान कहलाने वालों की अव्यवस्था बढ़ती जा रही
ही उतने ही अनुपात से अराजकता, उच्छृंखलता, निश्चित लक्ष्य, दिशा
है. यह लक्ष्य स्वयं में स्पष्ट करता है कि शिक्षा में कार्यक्रम, बोधगम्य एवं
एवं जीवन के लिए अनिवार्य एवं अविस्मरणीय ऐसे इतिहास एवं उससे सम्बद्ध
[illegible] नहीं हो रहा है. अतः लिये पुनर्विचार करने के
लिए विषय-वस्तुओं का अध्ययन करने के
लिए आवश्यक है।

30/11/81. "प्रकृति का विकास एवं इतिहास के आधार पर मानव, मानव जीवन,
जीवनी क्रम एवं जीवन का कार्यक्रम" — स्पष्ट होना एक वस्तुस्थिति
एवं वास्तविक सत्य है. रूपात्मक अस्तित्व प्रकृति के नाम से अभिहित हुआ है.
प्रकृति सतत् विकासशील रहना स्पष्ट हुआ है. विकास ही स्वयं में इतिहास है.
और अतुल विकसित प्रकृति अविकसित का दर्शन करती है यही इतिहास है. इस
क्रम में पदार्थावस्था विकसित होकर प्राणावस्था में अभिव्यक्त होना,
प्राणावस्था ह्रास पूर्वक पदार्थावस्था में परिणत होना देखा जा रहा है. यह
क्रियाशीलता से स्पन्दनशीलता, स्पन्दनशीलता से पुनः क्रियाशीलता में
परिणत होने का चमत्कार है. पदार्थावस्था के अणुओं की अपेक्षा प्राणावस्था के
अणुओं में संकोचन प्रसारण क्षमता स्पष्ट हुई. यही संकोचन-प्रसारण क्षमता
किसी एक अनुपात से अधिक हो जाना ही ~~[illegible]~~ श्वसन एवं प्रश्वसन है
और श्वसन-प्रश्वसन में यही द्रुत प्रयुक्त होता है. अपेक्षाकृत कम रहा अथवा
क्रियाशील रही. प्रकृति में ऐसी कोई इकाई नहीं है जो निष्क्रिय हो. क्रियाशीलता
ही प्रकृति का प्रधान लक्षण है. यही परिणाम, परिवर्तन एवं विकास का भी कारण है
पूर्णता में अपूर्ण प्रकृति समाया रहने के कारण उसमें पूर्णता में, के, के, लिए
उद्देश्य एवं प्रयास होना पाया जाता है जिसकी साक्षी में प्रकृति की प्रत्येक इकाई
परमाणु में गठनपूर्णता, क्रियापूर्णता एवं आचरणपूर्णता का होना पाया
जाता है. साथ ही पूर्णता के अनन्तर उसकी निरन्तरता की स्थिति देखी
जाती है. प्राणावस्था एवं पदार्थावस्था में गठनपूर्णता न होने के कारण
भौतिक एवं रासायनिक परिवर्तन होना स्पष्ट हुआ है. यही प्राण पंच [illegible] के
नाम से ख्यात है. जब गठनपूर्णता परमाणु में हो जाती है तब उसमें
स्वतंत्र क्रियाशीलता के साथ संवेदनशीलता की अभिव्यक्ति आशा के रूप
में अभिव्यक्त होती है. साथ ही प्राणावस्था के एक शरीर अथवा जीव
को अपनी आशानुरूप संचालित करने में समर्थ हो जाता है. ऐसे सामर्थ्य
मेधस युक्त प्रत्येक शरीर के द्वारा स्पष्टतया देखा जा रहा है. देखने की
प्रक्रिया समझने की है. समझने के लिये कारण, गुण, गणित ही आधुनिक
आधार है. मनुष्य के द्वारा इन तीन आधारों पर निर्णय पाने की क्षमता
का होना किसी न किसी अंश में होती ही है. अथवा नहीं उनका ~~[illegible]~~ विकास
रहा है. इसी आधार पर मनुष्य ~~[illegible]~~ अविकसित प्रकृति में किसी
न किसी आकार में स्थित रहता है. यही विकसित होकर मनुष्य के
द्वारा विकसित होने या पूर्ण होने की सम्भावना सम्भव हुई है गणित
के द्वारा किये जाने वाले प्रमाणीकरण प्रधानतः रूपात्मक अस्तित्व
की अभिव्यक्ति के रूप में ही हुआ है क्योंकि रूपात्मक अस्तित्व
अर्थात इकाईयों की गणना करते हुए संख्या अनन्त एवं क्रम अनन्त
की स्थिति में विचार हुआ है. अतः स्पष्ट हो जाता है कि गणित
से, गणित अथवा गणित से ग्रहण न होने मात्र से गणित
में, [illegible] के लिये सम्भावनाएं समाप्त नहीं हुई हैं. इस अर्थ में
सम्भावनाओं की विशालता सम्भव होती है. इसी आधार पर
अर्थात सम्भावनाओं के प्रयोजन एवं उपयोग की [illegible]
प्रमाण रूप देने के लिए अथवा प्रमाणित करने के लिए मनुष्य से

मनुष्य में प्रयास होना एक स्वाभाविक प्रसंग है क्योंकि मनुष्य अज्ञात को ज्ञात करने अप्राप्त को प्राप्त करने की दिशा में यत्न-प्रयत्न प्रयास एवं अभ्यासशील रहा है. इसी क्रम में पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था का अध्ययन किसी न किसी सतह तक हो चुका है और करने के लिए यत्न-प्रयत्नशील है इसी के साथ मनुष्य. मनुष्य का अध्ययन करना भी एक अपरिहार्य आवश्यकता है क्योंकि मनुष्य का मूल्यांकन न होने की स्थिति में शिक्षा पूर्वक एक सामाजिक मनुष्य का निर्माण कर लेना नहीं होता. सामाजिकता के अभाव में न्यूनता ही असामाजिकता है. न्यूनताएं जन्म से ही होना पाया जाता है. अस्तु प्रत्येक मनुष्य में न्यूनता को पूर्णता में परिणित करने के अर्थ में ही संस्कारों को स्थापित करना होता है. अथवा होना चाहिये अथवा होना पड़ेगा. मनुष्य के लिये मानवीयता ही एक मात्र शरण है यही स्वस्थ समाज की अभिन्न परम्परा है. मानवीयता के अर्थ में ही सम्पूर्ण संस्कार सामंजस्य स्थापित होती है. जिसके फलस्वरूप समाधान, समृद्धि, सह अस्तित्व और अभय स्वभावतः होता है. यही मानव का अभिप्रेत अभीष्ट, लक्ष्य एवं कार्यक्रम होने के कारण इसी ओर प्रवृत्तता का उन्मुख होना नियति क्रम तथ्य है.

गठन पूर्णता के अनन्तर प्रथम अभिव्यक्ति जीवावस्था एवं द्वितीय अभिव्यक्ति ज्ञानावस्था है गठनपूर्णता के पूर्व मूल अभिव्यक्ति - पदार्थावस्था, द्वितीय अभिव्यक्ति प्राणावस्था है. गठनपूर्णता के अनन्तर की अभिव्यक्ति जो ज्ञानावस्था है वह भ्रान्त, भ्रान्ताभ्रान्त एवं निर्भ्रान्त अवस्थाओं में अभिव्यक्त है. यही क्रम से भ्रान्तिपद चक्र एवं देव पद चक्र के नाम से अभिहित होता है. भ्रान्त मानव द्वारा पूर्वक जीवनावस्था में स्थित ही होता है. यह क्रम चक्र ही भ्रान्ति पद चक्र है. यह सामाजिक न होने के कारण क्रियापूर्णता और आचरणपूर्णता भ्रान्तिपद चक्र की सीमा में चरितार्थ न होने का कारण ही है पूर्णता की उपलब्धि में पूर्णता के लिए उत्क्रान्ति होना अर्थात् उत्थान (विकास) के लिए गुणात्मक परिवर्तन होने के लिए पीड़ा होना अथवा होने के लिए बाध्य होना एक स्वभाव सिद्ध तथ्य है अथवा नियति क्रम पद्धति है. इस प्रकार भ्रान्तिपद चक्र से संक्रमित होने के लिए स्पष्ट व्यवस्था अध्ययन सुलभ होती है. भ्रान्तिपद चक्र तक प्रकृति वातावरण के दबाव के फलस्वरूप में विकास का प्रभाव होना स्पष्ट हुआ है. भ्रान्तिपद चक्र से मनुष्य देव पद चक्र में संक्रमित होने के लिए अध्ययन प्रधान तत्व है जो संस्कार में चरितार्थ होता है. संस्कार स्वरूप में अवधारणा है. अवधारणाएं रूप में होने वाली स्वीकृतियां हैं. मनुष्य में स्वीकृतियां, नाम, जाति, धर्म, कर्म, भाषा, विचार के रूप में होना पाया जाता है. अविद्या की स्वीकृति ही कुसंस्कार के रूप में गण्य होती है और यही पतन का कारण होती है. यही भ्रान्ति है. मनुष्य को अध्ययनपूर्वक निर्भ्रम होने का अवसर समानतः प्राप्त है. निर्भ्रमता अर्थात् विद्या की ही परम्परा होती है. अविद्या अर्थात् भ्रम की परम्परा नहीं होती. भ्रम अविकास का द्योतक एवं मनुष्य में वांछित कर्म करने की स्वतंत्रता एवं फल भोगने की परतंत्रता का यह प्रकाशन है इससे सतत पराभव, प्रताड़ना एवं पीड़ा का होना पाया जाता है. पीड़ा मनुष्य की वांछित उपलब्धि नहीं है इसलिए विकासपूर्वक विद्या से परिपूर्ण होने की दिशा में गुणात्मक परिवर्तन की अपेक्षा प्रयोग प्रयास एवं अध्ययन करता है, कर रहा है या करने के लिए बाध्य है. विद्या का स्वरूप जो जैसा है उसे वैसा ही जानने की क्षमता. इसी क्रम में मनुष्य वास्तविकतः कौन है, क्यों है? का अध्ययन ही मनुष्य जीवन, जीवन का लक्ष्य एवं जीवन की कार्यक्रम का विश्लेषण पूर्वक मूल्यांकित होते हैं.

कारण, गुण एवं गणित से हम जितनी वस्तु को समझा सकते हैं, समझ सकते हैं.

गुण, स्वभाव, धर्म — रूप-गत अस्तित्व में ही होता है. गणित केवल रूपात्मक के अर्थ में है/ अस्तित्व विहीन कोई घटना नहीं होती-

Constructional saturation — गठनपूर्णता
functional saturation — क्रियापूर्णता
Behavioural saturation — आचरणपूर्णता.

निरन्तर अखंडता + सार्वभौमता = धीरता, वीरता, उदारता

संतुलन
व्यवस्था + प्रतिक्रिया का संतुलन -

3/10/84 अस्तित्व को समझने के लिए 2 आधार हैं:
(1) समझकर जीते हैं, वह अस्तित्व में हैं या नहीं?
(2) जो समझना चाहते हैं क्या वे अस्तित्व में हैं तभी समग्र अस्तित्व की बात आरम्भ होगी कि समग्र अस्तित्व कैसा है क्यों है, कितना है?
(3) अस्तित्व को समझने के मूल में उपयोगिता और अनुपयोगिता का प्रश्न निहित है या नहीं?

4/10/85. अस्तित्व क्यों है? यह प्रश्न सामान्य अथवा विशिष्ट ही रूप में स्व एवं स्व अस्तित्व के संदर्भ में प्रारम्भ अध्ययन, ज्ञान और प्रामाणिकता पूर्ण होने पर उसका निराकरण होता है. सर्वप्रथम यह देखें कोई भी व्यक्ति यह प्रश्न कर देवे — मेरा अस्तित्व है या नहीं, क्यों है, नहीं क्यों है. इसमें कई प्रकार के उत्तर मिलने लगेंगे. कई प्रकार के उत्तर के साथ-साथ मनुष्य अपने-अपने [illegible] चेतना की परिस्थिति पर आधारित होता है जिसे हम [illegible] स्तर करेंगे. मेरा अस्तित्व क्यों है अथवा मेरा अस्तित्व है कि नहीं? इस मनोविश्लेषण से यह पता लगता है जब-जब, जहाँ-जहाँ मनुष्य अपने अस्तित्व के संदर्भ में कोई प्रश्न उसका तात्पर्य स्व अस्तित्व है या नहीं? इस प्रश्न के उत्पन्न होने के मूल में निराशा और कुंठा का होना आवश्यक है. मनुष्य में निराशा और कुंठा निर्मित होने का मूल कारण स्वयं होता है. निराशा होने का मूल कारण वातावरण से मनुष्य की अपेक्षाओं का पराभव होना अर्थात् जैसा मनुष्य वातावरण से चाहता वैसी उपलब्धि न होना. कुंठा का कारण स्वयं में, से, के, लिए होता है. कुंठा है: अप्रामाणिकता का तात्पर्य प्रयोग, व्यवहार और अनुभव पूर्ण ज्ञान अथवा विचार या संचेतना न होने से है. इस प्रकार हर निराशा या कुंठा से ग्रसित होकर ही स्व अस्तित्व या अस्तित्व के संदर्भ में निरर्थकता का अनुभव करते हैं फलतः इस प्रकार के प्रश्न उभर कर आते हैं.

1. अस्तित्व क्यों है का उत्तर आनंद में, से, के, लिये है.
2. आनंद के कारक के लिये हम यह प्रामाणिकता में, से, के, लिये हैं.
3. ~~[illegible]~~
4.

इस प्रकार अस्तित्व और प्रकाशन और प्रकाशन से प्रकाशित है. अस्तित्व ही अविनाशी सत्य है. इस प्रकार से अस्तित्व का केवल
1. अस्तित्व विहीनता की कल्पना या उसकी सत्ता सिद्ध नहीं होती
2. सत्ता विहीन कोई भी कल्पना यह व्यवहारिक भी प्रमाणित नहीं होती है
3. प्रत्येक मनुष्य अपने स्व अस्तित्व को स्वीकारता ही है.

सह अस्तित्व के वैभव सिद्ध के अर्थ में ही क्यों, कैसा, कितना का प्रश्न उत्पन्न होता रहता है.

प्रत्येक विकासशील मनुष्य निरंतरता की अथवा चेतना की परिष्कृति के अर्थ में ही सम्पूर्ण प्रश्नों को करता है- परिष्कृत का तात्पर्य मनुष्य के संदर्भ में निर्भ्रमता के अर्थ में, मनुष्येतर प्रकृति अर्थात जड़-प्रकृति की परिष्कृत का तात्पर्य ~~मनुष्य के संदर्भ में निर्भ्रमता के अर्थ में~~, उस उसके क्रिया कलाप और स्वभावगत से है. इस प्रकार प्रत्येक स्तर में परिष्कृति क्रिया के रूप में ही है. विशेषतः परिष्कृति शब्द मनुष्य के जीवन के संचेतना के अर्थ में ही उपयुक्त होता है क्योंकि मनुष्य में अपेक्षाकृत श्रेष्ठ-श्रेष्ठ संस्कारों का होना पाया जाता है. साथ ही मनुष्य में भ्रम एवं निर्भ्रमता का अनुभव करना देखा जाता है. अतः परिष्कृत चेतना निर्भ्रमता पद को संस्थापित करती है. ऐसी परिष्कृत चेतना से हमें ज्ञात होता है कि "मैं क्यों हूँ" — इसका उत्तर सुख, शांति, संतोष एवं आनन्द से, के, लिये ही है. यह समाधान और प्रामाणिकता के अनुभव का उत्पादन है। समाधान और प्रामाणिकता ही क्रम में सुख, शांति, संतोष और आनन्द है. यही जीवन का नित्य वैभव है. इसलिये प्रत्येक मनुष्य तृषित है. इसी के लिए प्रत्येक प्रश्न किया जाता है. समाधान और प्रामाणिकता की निरन्तरता होती है. यह अनुभव प्रतिदिन, प्रतिपल, प्रतियुग या अनन्त युग में [illegible] जाता है. इसलिये आनन्द शांति, संतोष एवं सुख की निरन्तरता होती है.

समाधान और प्रामाणिकता ही मानव परम्परा का वैभव है. अस्तित्व विहीनता अथवा सत्ता वैभव की विहीनता नहीं होती. मनुष्य के अस्तित्व का वैभव क्रम में आनन्द, परम्परा में समाधान एवं प्रामाणिकता सिद्ध हुई. सह अस्तित्व है, समग्र अस्तित्व है।

प्र.— मनुष्य का अस्तित्व कोई-कोई साधिक मानते हैं उस स्थिति में अस्तित्व की निरन्तर कैसे हुई?

(2) ईश्वर निर्मित प्रकृति मानने वालों के द्वारा इस अस्तित्व को नकारने पर अस्तित्व की निरन्तरता कहाँ सिद्ध हुई-

3. वैज्ञानिक दृष्टि कोण से प्रकृति में न कोई चीज बनती है और न ही घटती है. तो मनुष्य कहाँ से आई- कब आई और क्यों आई?

उ.— पहले प्रश्न के संदर्भ में जीवन कोई-कोई साधिक मानते हैं तब अस्तित्व की निरन्तरता कहाँ सिद्ध हुई?

इसके बारे में पहले ही कह चुके हैं कि मनुष्य निर्भ्रम होने के लिये बाध्य है. प्रगतिशील है और पिपासु है. प्रत्येक विज्ञान विषय, कार्य को ही पूरी तरह समझ नहीं पाते हैं- इसका साक्ष्य हर देश, काल और मनुष्य में देखा जाता है. इसी भांति निर्भ्रमता का भी साक्षी मिलता है. जो जिस दिशा, कोण, परिप्रेक्ष्य, आयाम, सम्बन्धी परिपूर्ण ज्ञान और प्रामाणिकता से सम्पन्न हो गया है वह हर काल देश में मनुष्य के द्वारा वैसा ही वर्तते हुए देखा जा रहा है. इस प्रकार निर्णय हो जाता है कि जिसको हम सम्पूर्ण प्रकार से समझते हैं और प्रमाणित हो जाते हैं उन-उन बिन्दुओं अथवा मुद्दों से सम्बन्धित कोई वाद-विवाद नहीं रह जाता है।

इस प्रकार समाधान और प्रामाणिकता की निरन्तरता सिद्ध होती है।

शरीर को ही जो जीवन समझते हैं वे जीवन में नश्वरता को आरोपित करते हैं, जबकि जीवन नित्य और जीवन प्रकाशन के लिये शरीर का जन्म और मृत्यु मात्र एक घटना है। जीवन अक्षय शक्ति सम्पन्न है जो मनुष्य में आशा, विचार, इच्छा, संकल्प और अनुभूति के रूप में दिखलाती है। यही सार्थ जीवन की निरन्तरता को स्पष्ट करता है।

(अक्षय

४८ शरीर की नश्वरता इस अर्थ में है कि भौतिक और रासायनिक सोपानों सम्पूर्ण पदार्थ संगठन, विघटन क्रिया में व्यस्त होता पाये जाते हैं। इसी क्रम में शरीर रचना पूर्वक निर्मित होना और उसके निर्धारित कारणों से उसका विघटन होता है उसे ही हम जन्म और मृत्यु कहते हैं। यह स्वयं में इस बात का साक्षी है कि रासायनिक एवं भौतिक सोपानों की सम्पूर्ण पदार्थ अक्षय शक्ति सम्पन्न नहीं है अपितु सीमित शक्ति सम्पन्न है। इस प्रकार जीवन के संदर्भ में भ्रमित होने के कारण ही मनुष्य जीवन की विस्मृति में शरीर को ही जीवन मानकर भ्रमित होता है फलतः कुंठा से ग्रसित होता है। कुंठा से निष्पन्न कोई उद्गार आचरण, पाठ, शिक्षा, उपदेश नहीं होता। कुंठा और निराशा की तीन स्थितियाँ निर्मित होती हैं :-

1. मनुष्य अपने अस्तित्व को निरर्थक मानकर आत्म हत्या करे (शरीर को समाप्त करने के रूप में)।
2. पशु मानव बनकर उदर पोषण करने
3. राक्षस मानव बनकर भोग और उदर पोषण में व्यस्त होता है।

इस प्रकार कुंठा और निराशा अज्ञान का ही अपवाद अस्पष्ट ज्ञान पूर्वक ली गई मान्यता है जो स्वयं अमानवीयता को प्रकाशित करती है। अमानवीयता सामाजिक नहीं होती। सामाजिक होने के मूल में समाधान ही शरण है। समाधानित होने के लिये उसके धारक-वाहक को पहचानना है। हम जितना शरीर को पहचाने हैं वहाँ तक शरीर अथवा उसका ऐसा कोई भाग नहीं है जो समाधान का धारक-वाहक हो सके-क्योंकि जो जिससे बना रहता है वह उससे अधिक नहीं होता।

मनुष्य का शरीर प्राण कोशिकाओं से निर्मित, संचालित और प्रलयित होता हुआ देखा जा रहा है। ये प्राण कोशिकायें एक से अधिक मिलकर अपनी प्रजाति की अथवा अपने से निकटवर्ती प्रजाति को निर्मित करने में सहज क्रियाशील है। उसे देखने वाला मनुष्य ही है। ऐसी प्राण कोशिकाओं का निष्प्राणित हो जाना ही शरीर का विघटन है। प्रकृति में प्राण कोशिकायें एवं निष्प्राण कोशिकाओं का होना पाया जाता है। प्राण कोशिका में प्रधानतः स्पन्दनशीलता और प्रजनन अथवा प्रसार अर्थात् उसके अनुकूल इकाई की मिलन प्रवृत्ति पाई है। निष्प्राण और प्राण कोशिकायें मूल रूप में

अनेक अणु का संगठन ही है प्रत्येक अणु में अनेक परमाणुओं को देखा पाया जाता है इन [illegible] से प्राण एवं निष्प्राण कोशिकाओं जो परमाणु समाहित हैं गठे होवे - अपने अनेक प्रजाति के रूपों में होते सब अपने में प्रस्थापन एवं विस्थापन की सम्भावनाओं से युक्त हैं, इस प्रकार सम्पूर्ण सप्राण एवं निष्प्राण कोशिकाओं से रचित, रचना सम्पन्न यह गोह, नाज, वनस्पतियों और जीव जैव व मनुष्य के शरीर के रूप में देखी जा रही हैं उनमें समाहित हुए सभी परमाणु क्षरणशील हैं।

फलतः परमाणु अपेक्षाकृत क्षरणशील अथवा परिणामशील होने की सत्यता ही है कि सम्पूर्ण सापेक्ष शक्तियाँ क्षरणशील हैं। सापेक्ष शक्ति यों की क्षरणशीलता से यह तर्क अविशेष गति सामान्य होने से है - क्योंकि हम अविशेष गति अथवा किसी विशेष गति को ही सापेक्ष शक्ति के रूप में आकलित किये हैं। ऐसी गति सापेक्ष शक्ति सामान्य होते हुए अर्थात उनकी गति क्रमशः कम होते हुए सामान्य होना देखा जाता है। इस पद्धति से हम यह पाते हैं कि यही पदार्थ अथवा सामान्य गति की स्थिति में सप्राण, निष्प्राण कोशिकाएं सहित ठोस तरल और विरल स्थिति में पदार्थ अथवा प्रकृति को देखा जाता है। इस प्रकार मूलतः भौतिक एवं रासायनिक (यौगिक) पदार्थ चाहे ही किसी अवस्था में हो परन्तु उनमें कहीं अक्षय शक्तियाँ निष्पन्न नहीं होती जबकि प्रत्येक मनुष्य में अक्षय शक्तियों का प्रकाशन होना देखा जा रहा है वह आशा विचार, इच्छा, संकल्प एवं अनुभूति के रूप में है। हमें स्वस्थिति, जागृति और सतर्कतापूर्ण बुद्धि से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि साथ ही हम स्वीकारने लिये बाध्य होते हैं कि अक्षय शक्तियाँ भौतिक और रासायनिक (यौगिक) पदार्थ से अक्षय शक्ति निष्पन्न नहीं होती। साथ ही मनुष्य शरीर के द्वारा अक्षय शक्तियाँ निरन्तर प्रकाशित होती रहती हैं।

"आशा, विचार, इच्छा, संकल्प और अनुभूति अक्षय शक्ति है - इसका यह प्रमाण है।"

1. आशा शक्ति की अक्षयता को चयन और आस्वादन के रूप में देखते हैं (मन-शक्ति) मनुष्य के शरीर का सृजन, उसके पतन पर्यन्त (मृत्यु) उसकी क्षमता अर्थात मन की चयन और आस्वादन क्षमता घटती नहीं है।

2. विचार - वृत्ति की विचार शक्ति की अक्षयता सहज ही हम तुलन के रूप में देखते हैं यह प्रियाप्रिय, हिताहित, लाभालाभ, न्यायान्याय, धर्माधर्म, सत्यासत्य के रूप में प्रत्येक व्यक्ति में देखी जा रही है। इन विचारों को कितना भी बोला जाय या प्रकाशित किया जाय मूलतः विचारों में लम्बाई, चौड़ाई या ऊँचाई कहीं घट गई हो ऐसी कोई चीज नहीं होती, जितना ही प्रकाशित करता है उतना ही यह प्रखर एवं निखरित होता हुआ देखा जाता है जबकि शरीर की प्रत्येक क्रिया से निरन्तर शरीर शक्ति का क्षय होना देखा जाता है।

18.8 / 84 (3) चित्त :- इच्छा शक्ति :- चैतन्य इकाई की पाँच शक्तियों में से तीसरी शक्ति को कहा. चिंतन एवं चित्रण के रूप में दीखते हैं - जीवों में ये सम्पूर्ण इच्छाएँ होती हैं. चिंतन के लिये इच्छा होगी या चित्रण के लिये इच्छा होगी. चित्रण मानव प्रपंच (जीव-जगत) को लेकर होता है चिंतन अस्तित्व में अनुगामी होता है। [illegible] यह भी चित्रण का ही सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतम रूप होने के कारण इसे चिंतन कहा है. परावर्तन पूर्वक स्थूल - स्थूलतम की ओर आकलन, अध्ययन समीचीन होने के कारण चित्रण कहा गया. इस प्रकार चित्रण विश्लेषण के अर्थ में, विश्लेषण स्पष्टीकरण के अर्थ में, स्पष्टीकरण प्रमाणिकता के अर्थ में वस्तु यथार्थता, वस्तुगत सत्य और वस्तुस्थिति सत्य के अर्थ में [illegible] है।

'चित्रात्मक वाह्य-प्रपंच अर्थात शरीर, शरीर के द्वारा ~~[illegible]~~ अर्थात - इन्द्रियों द्वारा किये गए कार्य, - व्यवहार और व्यवहारगत भोग, उपयोग। आचरण चित्रित करते हैं वह विशेषकर रूप और गुण सीमावर्ती आकलन हुआ करता है. रूप आकार आयतन घन में सीमित और प्रमाणित, गुण सम, विषम, मध्यस्थ गति के रूप में गतिमय है। अथवा प्रभावशील है। इन विशेषकर अर्थात रूप और गुण को गणित से आकलित किया जाता है. एक से अधिक रूप अर्थात इकाईयों की स्थिति ही दिशा, काल, देश को स्पष्ट करती हैं जिसका आकलन गणित से होता है. देश के अर्थ में ही विस्तार की स्थिति है. यह भी मूलतः रचना का ही प्रकाशन है क्योंकि रचना की अवधि बराबर में विस्तार होता है -

इकाई के अभाव में विस्तार की अवधारणा मनुष्य में नहीं होती. इकाई अर्थात किसी भी पदार्थ, पिंड चाहे वह प्राण कोशिकाओं से रचित अथवा निष्प्राण कोशिकाओं से रचित हो सके, ऐसे ही पदार्थ पिंड की मूल इकाई परमाणु ही क्यों न होकर स्वयं क्रिया के रूप में प्रकाशित है. प्रत्येक क्रिया श्रम, गति और परिणाम के रूप में आकलित होती है यह भी गणित से सिद्ध होता है. श्रम, गति, परिणाम अविभाज्य स्थिति है. इसी संयुक्त स्थिति को संज्ञा क्रिया के नाम से जानते हैं जिसमें संक्रमण और परिवर्तन की स्थिति होती पाई जाती है. ऐसी इकाई जो क्रिया के रूप में प्रकाशित है उसकी अवधि काल के रूप में गण्य होता है. यह सब मनुष्य में पाई जाने वाली इच्छा नामक अक्षय शक्ति की ही महिमा है जो आकलित क्रिया करती है क्योंकि चित्रण के बिना कोई आकलन सिद्ध नहीं होती. सम्पूर्ण आकलन के मूल में एक अथवा इकाई ही सम्पूर्ण संख्या का आधार है. संख्या के मूल में इकाई का होना और ऐसी अनेक होना आवश्यक है। अकेली इकाई की कोई संख्या नहीं है. इसी भांति सत्ता में संपृक्त अनन्त इकाइयां संख्या के रूप में स्पष्ट प्रकाशित है. इस प्रकार संख्या के मूल में इकाई का होना, इकाई संख्या के रूप में स्पष्ट होने के लिये अनन्त इकाईयों का होना अथवा एक से अधिक इकाईयों का होना, और ऐसी अनन्त इकाइयों का सत्ता मयता में होना स्पष्ट है. इस प्रकार रचना की अवधि में विस्तार को, क्रिया की अवधि में काल को पदार्थ की [illegible]

अस्तित्व और स्थिति का नित्य प्रकाशन होना पाया जाता है जिसका दर्शक और सत्यापन कर्ता मनुष्य है. उसी आकलन क्षमता वश अर्थात् इच्छावश ही सत्य और सत्यता को अन्वेषण किया करता है. चित्त के परिवर्तन से आकलन पूर्वक चित्रण ही अध्ययन, अनुसंधान, आविष्कार एवं अध्यापन है. ऐसी क्षमता इस धरती में केवल मनुष्य में ही होनी पाई जाती है. इससे स्पष्ट होता है कि चित्त का परिवर्तन अर्थात् उपरोक्त तथ्यों के प्रकाशन में कितने भी काल तक प्रकाशित करते रहें, यदि उसका प्रकाशन माध्यम अर्थात् शरीर और योग्य व्यवस्थित या स्वस्थ रहने की स्थिति में एक ही मनुष्य अनेक मनुष्यों तक चित्रण को परिवर्तन पूर्वक विश्लेषण सहित अध्ययन सुलभ कर देता है. यही परावर्तित होकर समाधान और प्रामाणिकता के एवं अर्थ की सिद्धि के संदर्भ में चिंतन किया करता है. अन्य जैसा चित्रण में देखा गया रूप और गुण सीमावर्ती परावर्तन चित्त में स्मृति के नाम से ख्यात होता है चिंतन में अथवा चिंतन की वस्तु प्रधानतः स्वभाव एवं धर्म है. धर्म स्वयं समाधान और उसकी निरन्तरता है. स्वभाव मौलिकता और मूल्य होता है। मूल्य और समाधान युत अर्थात् सम्पन्न चित्रण ही व्यवहारिक एवं प्रमाण सिद्ध होता है. मूल्य विहीन या समाधान विहीन चित्रण कार्य मनुष्य को सामाजिक बनाने में असमर्थ होगा. चिंतन के आधार पर ही अर्थात् चिंतन मूलक चित्रण ही एक रूप में होना पाया जाता है अर्थात् शिक्षा की परम्परा होती है साथ ही सार्थक होती है।

सार्थकता:— उपयोगिता, प्रयोजनीयता एवं आवश्यकताओं के बिन्दुओं पर स्पष्ट हो जाती है।

(1) प्रयोजनीयता जीवन मूल्य एवं मानव मूल्य के अर्थ में होती है जीवन मूल्य आनन्द ही है। आनन्द सत्य और सत्यता में अनुभूत होने योग्य क्षमता, योग्यता पात्रता होती है। यही क्षमता सतत प्रमाणों को अभिव्यक्त करती है। सत्य में अनुभूत होने, निरन्तर समाधानित होने सतत सहअस्तित्व होने निर्भ्रमता पूर्वक न्याय होने, अधिक उत्पादन कम उपभोग पूर्वक समृद्धि होने के संदर्भ में ही संपूर्ण प्रमाणों का प्रसव होता है, क्योंकि परिष्कृत पूर्ण संचेतना संपन्न मनुष्य में दया, कृपा करुणा-पूर्ण स्वभाव संपन्न होता है फलतः प्रमाणों को प्रकाशित किया करता है। मानवीयता पूर्ण मनुष्य ही प्रमाणों को चिन्तन पूर्वक हृदयंगम करने फलत प्रामाणिक होने की सम्भावना से संपन्न रहता है। इस प्रकार इच्छाशक्ति ही प्रधानतः मानव के अभ्युदय के अर्थ में परावर्तन एवं प्रत्यावर्तन पूर्वक नित्य प्रकाशमान होता पाया जाता है।

यही रचनात्मकता एवं सृजनात्मकता का आधार एवं शक्ति है।

रचनात्मकता एवं सृजनात्मकता भी चित्रण का ही प्रतिरूप ~~में~~ होता है। यही सामान्य एवं महत्वाकांक्षा सम्बन्धी व्यवसायिकता को तथा मानवीयता पूर्ण व्यवहार को संपन्न किया करता है।

मानवीयता पूर्ण व्यवहार में स्थापित सम्बन्धों में निहित स्थापित मूल्यों की अनुभूति अथवा अनुभव सहित शिष्टता पूर्ण सेवा निर्वाह ही है। यह चित्रण का ही स्वरूप है। मनाकार के मूल में चित्रण ही आधार है। चित्रण के अभाव में मनाकार की कोई निष्पत्ति नहीं हो पाती अर्थात जागृति के अर्थ में सार्थक नहीं हो पाती। मानव की परिभाषा में मनाकार को साकार करने वाला और मनः स्वस्थता के आशावादी होने की सफलता ~~है~~ को स्पष्ट किया जाता है। इसका मूल रूप चित्त के चित्रण से मन नित्य सम्बद्ध रहने के अर्थ में स्पष्ट है। सम्पूर्ण चित्रण रूप और गुण की सीमा में होना पाया जाता है जबकि सत्ता में संपृक्त प्रकृति की प्रत्येक इकाईयों में रूप गुण, स्वभाव एवं धर्म अविभाज्य रूप में होना पाया जाता है। किसी इकाई के समझने के क्रम में चिंतन क्रिया और किसी वस्तु में आकार प्रदान करने के अर्थ में चित्रण क्रिया का होना पाया जाता है इसका साक्ष्य प्रत्येक मनुष्य ही है। इस प्रकार चिन्तन क्रिया की रूप, गुण एवं धर्म तक ही, सीमित हो जाती है उसी इकाई में समाहित स्वभाव एवं धर्म परावर्तन पूर्वक चिंतन में साक्षात्कार हुआ करता है। साक्षात्कार सत्य में अनुभूत होने के क्रम में होने वाली प्रतीति है। प्रत्येक इकाई में रूप आकार, आयतन और घन के रूप में गुण को सम, विषम, एवं के अर्थ में, गणित के द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास है। इसी में संख्या, काल, दिशा और देश ~~[illegible]~~ गण्य होते हैं। इसी को चित्रण क्रिया के परावर्तन के रूप में हम अध्ययन करते हैं। अस्तु गणित के द्वारा रूप और गुणों की किसी अंश में गणना का होना पाया जाता है। इसी को हम वैज्ञानिकता का प्राण एवं त्राण मानते हैं। जबकि वैज्ञानिकता [illegible] मै. स. के लिये होने वाली अभिव्यक्ति अथवा प्रकाशन

अथवा प्रकाशन की आंशिकता है। इसका साक्ष्य मनुष्य ही विज्ञान को समझता है, समझाता है और प्रयोग पूर्वक सिद्ध करता है।

विज्ञान के द्वारा किये गये संपूर्ण प्रयोग भौतिक और रासायनिक सीमावर्ती क्रिया और गति के अर्थ में सार्थक हुये हैं जो व्यवसाय के लिये महत्वपूर्ण देन हुआ है। जबकि मनुष्य व्यवसाय, व्यवहार विचार और अनुभूति के संयुक्त रूप में प्रकाशित है। इसी के साथ मानव की आर्थिक वैचारिकता ही है जो विज्ञान का अवगाहन करती है और उसे सार्थक बनाती है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि गणितीय पद्धति से संपूर्ण व्यवहार, विचार एवं अनुभूति का आकलन संभव सिद्ध नहीं हुआ। अस्तु कारण गुण गणित से ही मानव के सामाजिक दिशा कोण परिप्रेक्ष्य और जीवन को अध्ययन किया जाना आवश्यक है। गुण सम विषम ~~मध्यस्थ~~ मध्यस्थ के रूप में अभि   है। अर्थात प्रकृति की मूल इकाई परमाणु है जिसमें ह्रास और विकास का आकलन होता है उसी में इस सत्य को देखा जा रहा है। अथवा वह प्रकाशित है। प्रत्येक गठन में मध्यांश और   अंशों का होना पाया जाता है। मध्यांश के बिना गठन शुद्धि नहीं होती है क्योंकि किसी परमाणु में आश्रित अंशों का घटबढ़ होने पर भी गठन की स्थिति देखी जाती है जब कि मध्यांश के अलग हो जाने पर गठन की स्थिति समाप्त हो जाती है।

गुण सम विषम का मध्यस्थ के रूप में गण्य है जो जड़ और चैतन्य शक्ति के नाम से ख्यात है (सापेक्ष शक्ति) स्वभाव ही मूल्य के रूप में गण्य होते हैं। शक्तियों के नियोजन का जो प्रयोजन सिद्ध होता है वही स्वभाव है। जैसे संपूर्ण शक्तियां चाहे वह जड़ हो अथवा चैतन्य उसका परावर्तन होना देखा जाता है। वह केवल उद्भव विभव या प्रलय कारी ही होते हैं।

अंत में अमानवीयता का निगत से उद्गम, उद्गम से प्रवाह जैसा होता। इसी क्रम में मनुष्य के स्वभाव की कल्पना भी अपरिष्कृत अथवा पूर्वक अमानवीयता के रूप में अर्थात् हिंसक अथवा हिंस्र होने के रूप और परिष्कृत संवेदना पूर्वक सामाजिक होना अर्थात् पुरुष से पुरुषार्थक-क्षमता से सम्पन्न होने और परिष्कृत पूर्ण संवेदना पूर्वक नियम न्याय और प्रामाणिक होने की स्थिति स्पष्ट है। इस प्रकार मनुष्य अमानवीय मानवीय और अतिमानवीय मूल्यों में अर्थात् स्वभावों को प्रकाशित करता है यदि अमानवीयता की सीमा में दीनता, हीनता, ~~एवं~~ क्रूरता एवं मानवीयता पूर्ण मनुष्य में धीरता, वीरता, उदारता और अति-मानवीयता पूर्ण मनुष्य में दया, कृपा, करुणा के रूप में प्रकाशित यह स्वयं में स्पष्ट है कि इन तीनों की परिवर्तनीय स्वभावों का गणित के द्वारा निर्णय नहीं किया जा सकता।

धर्म से तात्पर्य धारणा से है। धारणा का तात्पर्य इकाई में से के लिए के अविभाज्यता से है अर्थात् जिससे-जिसका विलगीकरण न हो वही उसकी धारणा है।

धारणा = धर्म है। मानव धर्म सुख है। सुख ही क्रम से शांति, संतोष एवं आनंद के नाम से ख्यात है। समाधान की निरंतरता में सुख और उसकी निरंतरता है। प्रत्येक मनुष्य सुखी होना चाहता है साथ ही सम्पूर्ण प्रकार के क्रिया-कलापों को इसी की आशा, अभिलाषा व आशा में किया करता है। आशायें साधन-पूर्वक सुखी होने का प्रयास करती हैं। सम्पूर्ण साधन सीमावर्ती होने के कारण साधन में सुख भासित हो भी उसकी निरंतरता नहीं होती क्योंकि इन्द्रिय स्वयं सामयिक है उसकी निरंतरता नहीं है। इन्द्रियाँ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधों की सीमावर्ती होती हैं। ~~स्पर्श~~ विश्लेषक हैं और उनकी सीमावर्ती क्रिया में साधन क्रिया अधिकाधिक सेवन पाया जाता है उसकी निरंतरता नहीं होने के फलस्वरूप मानव अभिलाषावादी होता है। ~~अभिमुख्य के दिशा में साधनकारी क्रियायें~~ अभिमुख्य

अभिमुख्य के अर्थ में साधनकारी क्रियायें अभिलाषा कहलाती हैं यह परिष्कृत संवेदना की ~~[illegible]~~ द्योतक है जो स्थिति के अनुरूप होता है अभिलाषा वहां भी मानव। केवल साधन सापेक्षता व्यवहार में मानव मूल्य स्वभावतः आशय मूलक होता है। इसी कारण से संवेदना सामाजिक सिद्ध हो जाती है। प्रत्येक मनुष्य सामाजिकता में से के लिए आकांक्षित एवं निरंतर होता है।

चिन्तन केवल न्याय धर्म एवं सत्य में जी. के लिये होता है। चित्त में सही न्याय एवं समाधान का साक्षात्कार करने का आधार है। क्रियाहित लाभ में जी. के लिये चित्रण होता है। चित्रण परानुक्रमों एवं रूप एवं गुण की सीमा में रहता है। जबकि न्याय और धर्म सत्य धर्म (समाधान) न्याय का ही प्रतिरूप अनुरूप होता है। क्योंकि चिन्तन में ही सत्य, समाधान न्याय का साक्षात्कार होता है न्याय का व्यावहारिक रूप ही है। मूल्य और मूल्यांकन मूल्यों की श्रेष्ठता विशिष्टता पूर्णांगता: के माध्यम से साक्षात्कार करता है जैसे कोई स्नेह कृतज्ञता, गौरव श्रद्धा, प्रेम, विश्वास, वात्सल्य, ममता, सम्मान करता है। कि नहीं कर रहा है या रहा है कि नहीं इसे प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है प्रत्येक व्यक्ति में मनुष्य के प्रति इस प्रकार होने वाली अनुभूतियों को अनुभव करना ही मूल्यांकन का तात्पर्य है। इस प्रकार मूल्यों की अभिव्यक्ति ही मूल्यों का तात्पर्य और उसे पहचानना ही मूल्यांकन का तात्पर्य हुआ। यही मनुष्य की परस्परता में पाये जाने वाले अन्तरंग आकांक्षायें हैं। इसका निर्वाह होना ही मानवता है। इसका निर्वाह न हो पाना ही अमानवीयता है। स्वयं निर्वाह करते हुए अन्यों को प्रेरणा के स्रोत बनना ही अतिमानवीयता का तात्पर्य है। इस प्रकार चित्त में जो चिन्तन पक्ष है उसी में मूल्य एवं मूल्यांकन की क्षमता समायी हुई है। इसी प्रकार, अभ्यास बनाने के लिये ही प्रामाणिक शिक्षा और संस्कारों का प्रयोजन है। इसी क्रम में मानवीय संस्कृति सभ्यता विधि एवं व्यवस्था की अखंडता एवं सार्वभौमिकता सिद्ध होती है।

बुद्धि — चैतन्य इकाई की चतुर्थ क्रिया बुद्धि के नाम से है। बुद्धि का कार्यक्षेत्र संकल्प के नाम से और प्रमाणीकरण बोध के नाम से अभिहित होता है। संकल्प गति मनुष्य की दृढ़ता स्थिरता गंभीरता और धैर्य को प्रकाशित करती है इसी का प्रमाणीकरण बोध में स्पष्टता सूक्ष्मता और सूक्ष्मतरता की अवधारणा में होता है। यह प्रमाणतः स्वभाव व धर्म सहित धर्म अस्तित्व में अनुभूति ही है। अनुभूति का योग ही ऋतम्भरा का रूप है। आत्मा बोध की अवधारणा ही प्रमाणीकरण में स्पष्टता सहित प्रकाशन होता है। यही जागृति की ही

अवधारणा है।

और प्रमाणिकता और समाधान भी इस प्रकार बोध में परमतः सत्य बोध ही है यही परावर्तन की स्थिति में वस्तु स्थिति सत्य, वस्तुगत सत्य अर्थात् देशकाल, दिशा, को और वस्तुगत सत्य के स्वभाव व धर्म को बोध रूप में ग्रहण करता है यही अवधारणायें 'धी' के नाम से भी जानी जाती है, इसी बुद्धि की अवधारणाओं को परिष्कृत रूप देने के लिये संकल्प की साहसिकतायें हैं। वे निष्ठा और प्रतिष्ठा के रूप में वर्तमानित होती हैं वर्तमानित होने का तात्पर्य इसका जीवन में चरितार्थ होने से है ऐसी अवधारणा के लिये तीन प्रधान तत्व हैं।

(1) अध्ययन
(2) अनुसंधान
(3) अभ्यास

ये प्रक्रियायें अवधारणाओं को सत्य बोध के अर्थ में स्थापित करने के लिये सहायक है। इसके विपरीत लोक और विषय बोध क्रमशः अहंकार और भ्रमवादी बोध है। अवधारणाओं के रूप में प्रकाशित होते हैं ये असत्य बोध या सत्य बोध के विपरीत पक्ष है इसी सत्यता तथा इसकी प्रतिष्ठा सिद्ध न होने के कारण अर्थात् इसकी सत्ता सिद्ध न होने के कारण सत्य बोध के लिये बाह्य होता है। सत्य में ही सम्पृक्त प्रकृति होने के कारण सत्य में अनुभूति ही प्रकृति में पाये जाने वाला और होने वाला एकमात्र लक्ष्य है। यही लक्ष्य सार्वभौम रूप में इष्ट है। मानव सार्वभौमिकता में, से, के लिये ही अखण्डता का अनुभव करता है इसका साक्ष्य प्रत्येक प्रमाण सार्वभौमिकता को सिद्ध किया है ऐसे प्रमाणों की प्रमाणिकता पूर्ण मनुष्य ही स्थापित किया है। इस प्रकार मनुष्य की अवधारणायें नियमता के अर्थ में सार्थक होती हैं। जो प्रमाणगत अध्ययन और संस्कार की सुलभता के रूप में देखते हैं। प्रमाणों की धारकता वाहकता मानवकुल और इसकी परम्परा के दायित्व के रूप में इष्टव्य है। सम्पूर्ण अवधारणायें अध्ययन और संस्कारों से प्रतिफलित होती हैं, इनमें से भ्रामकतावादी जितने भी संस्कार अध्ययन, अवधारणा के रूप में समाया रहता है यही अहंकार का स्वरूप है अर्थात् अप्रमाणित स्वीकृतियाँ स्वयं में अहंकार है।

(अवास्तविक अस्तित्व को स्वीकारना ही अहंकार है)
अप्रमाणिकता स्वयं प्रमाणिकता के लिये पीड़ा है। प्रमाणिकता
और अप्रमाणिकतायें कायिक वाचिक एवं मानसिक व कृतकारित
व अनुमोदित अर्थात किया हुआ कराया हुआ करने के लिए
मत दिया हुआ सोचा गया सोचवाया गया सोचने के लिए
मत दिया गया बोला गया बोलवाया गया बोलने के लिये
मत दिया गया इन तीन प्रकार से किसी भाव की अपेक्षा में
ही कर्म किया करता है। जो प्रत्येक मनुष्य में होने वाले कर्मों के
प्रकार और संभावना से है। इन सभी कर्मों से भावापेक्षा रहित
ऐसा कोई कर्म सिद्ध नहीं होता मनुष्य में होने वाली प्रत्येक अभाव
की प्रतीति भी किसी भाव की अपेक्षा में होना पाया जाता है।
भाव कल्पना के बिना भावापेक्षा के बिना भावों की अवधारणा
के बिना अभाव का भाव, अभाव या प्रतीति नहीं होती।
भ्रम से भाव भासता है अभाव का भास होता है। इस स्थिति
में ही पीड़ायें भाव की अपेक्षा में उत्पन्न करती हैं। इस
प्रकार भास आभास एवं प्रतीति के तक सम्पूर्ण भ्रम,
असत्य, अज्ञान, अंधकार, भय, अहंकार, मृत्यु की कल्पनायें
उत्पन्न करती हैं। अज्ञान, अतिव्याप्ति, अनाव्याप्ति और
अव्याप्ति के रूप में अर्थात जो जैसा है उसे अधिक
समझने से, कम समझने से और न समझने से है।
भ्रम का तात्पर्य अस्तित्व हो जिसका न हो उसकी कल्पना
हो जाना ही भ्रम है जैसे मृगतृष्णा मरिचिका असत्य वस्तु
स्थिति सत्य या स्थिति सत्य से भिन्न भिन्न का आरोप करता है
असत्य है। अशान्ति = भ्रम + असत्य।

किसी एक अपारदर्शक इकाई की ओर प्रकाश पड़ने पर
उसकी परछाईं अंधकार के नाम से जाना जाता है,
भय — ये मनुष्य का प्राणभय हानभय, मानभय के रूप
में परिलक्षित है इन सबके मूल में मृत्यु भय ही प्रधान भय
है मृत्यु शरीर की होने वाली विघटन प्रक्रिया है जो की शरीर
में पायी जाने वाली वस्तुओं को प्राण कोशिकाओं के संगठित
पिंड को हम शरीर कहते हैं अनेक प्राण कोशिकाओं का
इस संगठन के रूप में इस शरीर का निरीक्षण परीक्षण
एवं सर्वेक्षण पूर्वक देखा जा रहा है कि प्रत्येक शरीर में प्राण-
कोशिकायें [illegible] नहीं होती।

क्योंकि जो निरन्तर बना रहता है तो उसका अस्तित्व नहीं रहता
इस प्रकार जीवन की प्यास का तात्पर्य ही नहीं निकलता क्योंकि
जीवन मूलतः चैतन्य पद में संक्रमित आत्मा से गठित होता है।
ऐसी स्थिति में इसका कोई प्रश्न अर्थात् [illegible] विश्वास
की आवश्यकता [illegible] हुई क्योंकि प्राणकोशिकायें
परिणाम परिवर्तन वादी होने पर भी उनका अस्तित्व समाप्त
नहीं होता। देखने में अन्तर मिलता है कि
प्राण कोशिकायें निष्प्राण कोशिकाओं में परिवर्तित हो जाते हैं
निष्प्राण कोशिकायें अन्य संख्या प्राण कोशिकाओं को
उनकी रचनाओं के रूप में होना और नहीं निष्प्राण कोशिकाओं
में परिवर्तित हो जाना ही मृत्यु है। इस प्रकार मृत्यु का
कोई अस्तित्व नहीं है तब उस पर आधारित भय का अस्तित्व
भी नहीं है। अज्ञान का परिवर्तन ज्ञान, ज्ञान का परिवर्तन [illegible] है
इस प्रकार से मूलतः अज्ञान ही इस प्रकार अस्तित्व विहीन
कल्पना किसी अस्तित्व की अपेक्षा में करता है फलतः मौत
के प्रति पीड़ा अर्थात् अस्तित्व के प्रति पीड़ा अथवा ज्ञान के
प्रति पीड़ा होना है। यही वास्तविकता यथार्थता और सत्यता में
परिवर्तन और प्रमाणित होने के लिये आवश्यक है। इन प्रमाणों
में से अनुभव [illegible] प्रमाण आधार है। इसी स्थिति में
आत्मसंतोष है और तीसरी स्थिति में [illegible] है।
अनुसंधान और अध्ययन के मूल में [illegible] और [illegible] की
आवश्यकता ही अस्तित्व में निरन्तर [illegible]
अनुसंधान और अध्ययन सफल होते हैं। अस्तित्व ही सत्ता
ऐसे वस्तु के प्रति कोई जिज्ञासा [illegible] ही
स्थिति में विश्वासहित व्यवहारिक होता है। उसमें कोई सफलता होती
है तो वह [illegible] हो जाता है। इस प्रकार अनुसंधानकर्ता में
अनुभव के लिए प्रमाणस्वरूप [illegible] और निश्चय के रूप में
परिवर्तित होने के लिये और यही परिवर्तन [illegible] प्रयोग
प्रतीक प्रवर्तित होने के लिये [illegible] स्थिति [illegible]
[illegible] ही विकास होना पाया जाता है। विकास के क्रम में कोई
क्षति क्रम नहीं है। विकास का प्रत्येक बिन्दु प्रत्येक अवस्था
प्रत्येक स्थिति अपने में सार्थक सिद्ध करता है क्योंकि
अस्तित्व अर्थविहीन नहीं है अर्थात् सार्थक है। इसके [illegible]
[illegible] में [illegible] के लिये [illegible] अनुभव की सामग्री और
प्रमाणता अस्तित्व में अनुभूत होने के लिये है।

आत्मा — चैतन्य इकाई की मध्यस्थ क्रिया आत्मा है। आत्मा चैतन्य परमाणु का मध्यांश है। परमाणु का गठन मध्यांशों पर आधारित है। मध्यांशों का तात्पर्य परमाणु के गठन [illegible] अर्थात् जितने भी परिवेशीय स्थित अंश होते हैं और उनकी परिवेशों की अपेक्षा जो मध्य बिन्दु सिद्ध होता है उसी बिन्दु पर अवस्थित अंश मध्यांश कहलाता है। मध्य में स्थित अंश होने के कारण आश्रित अंशों का अर्थात् आश्रित परिवेशों में स्थित अंशों का आकर्षण अर्थात् प्रभावीकरण मध्यांशों पर नहीं होता। मध्यांशों के अभाव में गठन की स्थिरता सिद्ध नहीं होती अर्थात् गठन ही सिद्ध नहीं होता। गठन पूर्वक ही प्रत्येक जड़ चैतन्यात्मक परमाणु कार्यरत है। गठन की स्थिरता और समृद्धि मध्यांशों की स्थिरता पर ही आधारित होना पाया जाता है क्योंकि प्रत्येक परमाणु के आश्रित अंशों में होने वाली अर्थात् आश्रित परिवेशों में स्थित अंशों में होने वाली सभी क्रियाओं [illegible] अंशों का आचरण मध्यांश द्वारा होता पाया जाता है। प्रत्येक परमाणु अपनी स्वभाव जाति के स्थिति में ही क्रमिक विकास की आवश्यकता का अनुभव होता है। गठनपूर्णता तक परमाणु का विकास [illegible] के रूप में मिलता है। गठनपूर्णता के अनन्तर उसमें गुणात्मक परिवर्तन क्रिया गुणात्मक विकास के रूप में परिलक्षित है। गुणात्मक विकास का तात्पर्य [illegible] परिष्कृत और परिष्कृत होना ही है। ऐसी परिष्कृति आत्मा की [illegible] होती है। जागृति मानव की [illegible] और [illegible] जागृति में [illegible] होती है। जागृति का तात्पर्य अनुभव की उसकी स्थिरता होना पाया जाता है। जागृति का [illegible] होती है। [illegible] ही है। ऐसी अनुभूति प्रामाणिकता के रूप में [illegible] होती है। [illegible] प्रामाणिकता एवं [illegible] शिक्षा के लिये [illegible] प्रामाणिकता एवं [illegible] के लिये [illegible] के लिये आदर्श, व्यवहार के लिये [illegible] के लिये [illegible] विधान होता है। गुणात्मक विकास जागृति [illegible] होना [illegible] में होती है। [illegible] मानव जागृत होने के लिये आवश्य है। जागृति पूर्वक होने वाली प्रामाणिकता ही अर्थात् प्रामाणिकता एवं [illegible] ही [illegible] के लिये [illegible] होता है। [illegible] जागृति [illegible] चेतना में परिष्कृत पूर्णता [illegible] सफल है। [illegible] क्रिया को ही [illegible] चैतन्य शक्तियों और [illegible] होने का प्रमाण होता है। [illegible] क्रिया [illegible] के रूपों में [illegible] के रूप में ही [illegible] है। प्रत्येक चैतन्य इकाई में अर्थात् मानव में [illegible] सम्पूर्ण क्रियाओं की [illegible] का [illegible] होता है। मानव में ~~[illegible]~~ [illegible] काम, क्रोध, लोभ, मद, मात्सर्य के रूप में [illegible] होता है। [illegible] में [illegible] है। [illegible] सामाजिकता की अपेक्षा में [illegible] ही मानव के सम्पूर्ण [illegible] में ही प्रवाहित होते हैं। [illegible]

उक्त छः प्रकार के आवेशों द्वारा किये गये सम्पूर्ण क्रिया कलाप अप्रामाणिक सिद्ध होते हैं। साथ ही इनकी निरन्तरता भी सिद्ध नहीं होती। जैसे व्याकुलता की निरन्तरता किसी भी देश काल में किसी भी मानव में नहीं देखी गई। इसका स्वाभाविक होना पाया जाता है। इसी भांति अन्य सभी आवेशों सहित यह सम्मोहित विवशता विरोधात्मक हो तब आवश्यक ही होता है। सामान्य होने के लिये प्रतिक्रिया विवशता का ही है। यह सब सामान्य होने के लिये सुख, शान्ति, सन्तोष एवं आनन्द की अपेक्षा का होना और उसके लिये तथा उसकी निरन्तरता के लिये स्वाभाविक रूप में प्रामाणिकता की आवश्यकता का अभाव और प्रतीत होना पाया जाता है। इस आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रामाणिकता ही मानव की सुख प्राप्ति के मूल में आधार है तथा प्रत्येक मानव के अन्तःकरण में आग्रह रूप में होने वाली आकांक्षा प्रामाणिकता का मानवीय क्रिया का ही प्रकाशन नहीं प्रामाणिकता का अभाव और अनुकूल होना पाया जाता है। यही प्रबुद्धता का अर्थ है। प्रबुद्धता ही मानव में जो के लिये स्वयं आवश्यकता और प्रयुक्तता है। अन्यथा, किसी देश भौगोलिक काल न तो प्रयुक्तता ही है और न ही आवश्यकता ही है। क्योंकि, उसकी गम्भीरता और अनुकूलता का नहीं होना पाया जाता है।

प्रबुद्धता ही मानवीय जीवन है। प्रबुद्धतापूर्ण जीवन में ही अनुभवात्मक और सभी प्रकार प्रामाणिकता पूर्ण सभी [illegible] होता है। प्रबुद्धतापूर्ण प्रत्येक इकाई में स्वभावतः विवेक, ज्ञान, समाधान और आग्रह के लिये [illegible] होना आदिकाल से अनन्तकाल तक पाया जाता है। प्रत्येक आध्यात्मिक अनुभव का ही प्रकाशन है। ऐसा प्रकाशन आध्यात्मिक अनुभव, व्यवहार एवं व्यवसाय है। आध्यात्मिक प्रमाण के साथ ही संप्रेषणा समाधान के साथ से व्यवहार [illegible] नियम के साथ से जोड़ते हैं। यही इसका अर्थ एवं प्रमाण है। यही प्रामाणिकता पूर्ण व्यक्तियों है जिसके रूप में अपनी [illegible] को व्यावहारिक सिद्ध कर देती है। इस प्रकार मानवीय क्रिया का स्वरूप में अनुभव होना ही जागृति है। अनुभव सत्ता में [illegible] के लिये ही होता है, सत्ता स्थिति सत्य, वस्तु स्थिति सत्य एवं वस्तुगत सत्यों के अर्थ में स्पष्ट, मानवीय जीवन ही सामाजिक होता है। और [illegible] विरोधात्मक जीवन ही असामाजिक होता है। [illegible] विरोधात्मक चेतना [illegible] या सम्मोहनात्मक [illegible] विवश चेतना सिद्ध नहीं होती। चेतना की [illegible] गरिमा और उसकी विशालता तथा निरन्तरता [illegible] चेतना में ही होती है। [illegible] का मुख्य तात्पर्य सामान्य बनाने के अर्थ में है। सामान्य बनाने के लिये विवशता सामान्य होने के लिये जो [illegible] ये मनुष्य में अवश्य प्रकृति में [illegible] के साथ से जानी जाती है, मानव में होने वाले आवेशों में एक सम्मोहनात्मक एवं [illegible] विरोधात्मक होता है।

काम ~~[illegible]~~ लोभ और मोह ये संग्रहात्मक आवेश होते हैं। मद मात्सर्य एवं क्रोध विरोधात्मक होते हैं। इन्हीं में से एक को सम और दूसरे को विषम कह सकते हैं। इनका आभास होना इसके अनित्यता से स्पष्ट होता है। अस्तित्व सतत अक्षुण्ण होने के अर्थ में ही सत्ता के नाम से व्याख्या होता है। विकास के क्रम में मनुष्य जो, से, के लिये सत्यता, जागृति पूर्णता में ही स्पष्ट होती है। मनुष्य की सत्ता प्रामाणिकता में अक्षुण्ण होती है। साथ ही अप्रामाणिकता में अक्षुण्ण नहीं रहती। यही सत्य मनुष्य को निरन्तर प्रामाणिकतापूर्ण होने के लिये बाध्य किया है। मनुष्य के अंतःकरण में अर्थात मन वृत्ति चित्त, बुद्धि एवं आत्मा ~~[illegible]~~ समुच्चय का परावर्तन एवं प्रत्यावर्तन की अविरल क्रियाशीलता के फल स्वरूप ~~[illegible]~~ प्रामाणिकता का प्रमाण होता है। पूर्ण में अर्थात प्रकृति का पूर्ण के अनुभूत होना ही प्रामाणिकता और उसकी सफलता का अर्थ है। प्रामाणिकता संपूर्ण आवेगों से मुक्त, नित्य, सत्यस्वरूप होने के कारण नित्य मध्यस्थ के वैभव को स्पष्ट करता है। इस प्रकार मध्यस्थ क्रिया पूर्ण जागृति में और चैतन्य इकाई के संपूर्ण अवयव अर्थात मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि का प्रामाणिकता से आलोकित होना ही मध्यस्थ जीवन, जागृत जीवन, सफल जीवन एवं मानव जीवन है।

मनुष्य-जीवन नैसर्गिक को शरीर के माध्यम से दूसरे शरीरधारी मनुष्य और जीवादियों के साथ व्यवहार के रूप में प्रस्तुत करता है। मनुष्य के साथ जो विचारात्मक आदान-प्रदान होता है और वनस्पतियों और पदार्थावस्था के साथ भी जो क्रिया-कलाप करता है उसका वर्गीकरण और नामकरण निम्न प्रकार से समीक्षा के अर्थ में सुगम होता पाया जाता है।

1. मनुष्य मनुष्य के साथ व्यवहार करता है। व्यवहार में संवेदना अथवा संतुलित संवेदना अथवा परिष्कृत संवेदना पूर्ण के व्यवहार का निर्वाह पाया जाता है।

2— मनुष्येत्तर प्रकृति के साथ व्यवसाय करता है। व्यवसाय का अर्थ आकांक्षा इच्छा की सीमा में होना दृष्टव्य है। वह महत्वाकांक्षा और सामान्याकांक्षा से संबंधित व्यवसाय आहार आवास और अलंकार सम्बन्धी उत्पादन से है। महत्वाकांक्षा से संबंधित उत्पादन दूर श्रवण, दूरगमन, दूरदर्शन कोटि के अर्थ में है। यही मनुष्य की ~~[illegible]~~ उत्पादन एवं आवश्यकता की सीमा है। और जो बहु विध्वंसात्मक वस्तुओं का निर्माण करते हैं वह किसी भी प्रकार से सामाजिकता के अर्थ में विधानात्मक प्रयोजन और उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ।

मनुष्य के लिये उपयोगी और प्रयोजन की उत्पादन केवल सामान्याकांक्षा और महत्वाकांक्षा सम्बन्धी वस्तुओं का ही है। यह सम्पूर्ण उत्पादन समाज गति का साधन है न कि यही मानव का और मानव समाज का साध्य। मानव, मानव जीवन, मानव समाज का लक्ष्य समाधान, समृद्धि, अभय और सह-अस्तित्व ही है। इन सार्वभौम लक्ष्यों की पूर्ति चरित्रशीलता और सुगमता मानवीय संचेतना अथवा मानवीयता पूर्वक सफल हो जाता है। अमानवीयता और अमानवीय संचेतना पूर्वक असफल हो जाता है। इसी क्रम में मानव अभ्युदय के लिये वांछित हो जाता है क्योंकि प्रत्येक मनुष्य का अभीष्ट शुभ है। सम्पूर्ण श्रम ऊपर कहे गये चार लक्ष्यों के अर्थ में ही सार्थक होते हैं अर्थात व्यवहारिक होते हैं। शरीरधारी प्रत्येक जीवन व्यवहार के लिये वांछित है। व्यवहार गति को सुगम, समृद्ध बनाये रखने के लिये और शरीर निर्वाह के लिये उत्पादन अर्थात व्यवसाय एक आवश्यकता है। इन्द्रिय ~~[illegible]~~ संनिकर्षात्मक चेतना पूर्वक भी व्यवसाय की आवश्यकता का होना पाया जाता है वह प्रधानतः सुविधा और भोग सीमावर्ती चेतना में क्रियाशील होना देखा जाता है। इसी के साथ मनुष्य सुविधा और भोग की सीमा में पूर्णता सार्थक होने का साक्षी सिद्ध नहीं हुआ अपितु उसके विपरीत अपेक्षाकृत सुविधाओं का कम और अधिक के बीच में संघर्ष, युद्ध, आतंक, द्रोह, विद्रोह और शोषण के क्रियाकलाप में मनुष्य का विवश होना देखा ~~[illegible]~~ जा रहा है। इन सबका मूल कारण केवल जीवन का ज्ञान नहीं होना साथ ही जीवन मूल्य मानव मूल्य और समाज मूल्य के साथ मूल्यांकन क्षमता स्वभाव अथवा संचेतनात्मक विकास का न होना ही है।

जो जिस मूल्य को समझ पाता है उसे सार्थक बनाने की दिशा में आदि से निश्चय होता है। इसी क्रम में विकास प्रतिष्ठा एवं घटनायें द्रष्टव्य हैं। मनुष्य भी इसी क्रम में एक घटना है। मनुष्य जीवन की अभिव्यक्ति को कृतकृत्य होने के आशय से अपना अभिप्राय से ~~[illegible]~~ प्रेरित है। इसका साक्ष्य है प्रत्येक मनुष्य समाधानित एवं प्रामाणिक होने के लिये स्वयं स्फूर्त आकांक्षा। इस चरित्र रूप में पाना ही सह-अस्तित्व एवं समृद्धि है। इस प्रकार जब मनुष्य में अभीष्ट समाधान और प्रामाणिकता है वह जीवन में संचेतना का अर्थ है अथवा ज्ञान है अथवा अनुभव प्रमाण है। इसी की सार्थकता में अथवा इसी ज्ञान बल अथवा बुद्धिबल का परावर्तन सहज रूप में सह-अस्तित्व और समाधान होना पाया जाता है।

...कता ही आवश्यक है। सामाजिकता और समाधान जीवन का स्वत्व है यही विकसित संचेतना है, जागृत जीवन है। इसी के पारंगत में मूल्यों की पहचान और संबंधों का निर्वाह होना पाया जाता है। संबंधों के निर्वाह में ही सहअस्तित्व और समृद्धि का [illegible] होता है।

[illegible] को जीवन समझने का युग ही है। सुविधा और भोग के लक्ष्य पर आधारित सभी शिक्षा-व्यवस्था एवं व्यवहार का व्यक्ति केन्द्रित होना। व्यक्तिवादी चेतना में समाधान होना संभव नहीं है। क्योंकि समाधान सार्वभौम होता है। सुविधा और भोग अर्थात [illegible] की सीमा में विकृत संस्कार अर्थात भ्रमवादी संस्कार और प्रभावशील होता है क्योंकि संपूर्ण सुविधा इन्द्रियसन्निकर्ष के रूप में इन्द्रिय व्यापार का संकलन है। [illegible] व्यापार है। अर्थात शिक्षा-व्यवस्था सुविधा, भोग [illegible] कहीं भी मानवीय निरंतरता को सिद्ध करने में तथा सार्वभौमिकता को प्रकाशित करने में समर्थ नहीं रहा है। क्योंकि यह मूलतः भ्रम मूलक अपार [illegible] मनुष्य को परावलम्बित करता है। यथा राजनीतिक सामाजिक आर्थिक व्यवस्था व्यवहार विचार अनुभूति व्यक्ति परिवार समाज [illegible] आवश्यकताओं [illegible] और [illegible] में निरंतर बदलती हुई विषमताएँ हैं। इसी के साथ-साथ इन सबको [illegible] ही समझ सकते हैं। बौद्धिक भौतिक एवं [illegible] में आवश्यकता को न पाना।

मनुष्य सामाजिक सत्ता को प्रकाशित करने के लिये [illegible] आवश्यक है जीवन का [illegible] होना जिसकी [illegible] समता [illegible] की अवधारणा प्रत्येक मनुष्य में होना आवश्यक है। यही शिक्षा संस्कार का [illegible] है। अभी तक [illegible] शिक्षा संस्कारों को पीढ़ी से पीढ़ी को [illegible] है उन सबको यथा स्थिति [illegible] ही है। इस वर्तमान में शिक्षाविद् और समाजशास्त्रियों का कहना है कि शिक्षा संस्कार हीन हो गई है। उनके कथन से यही विश्वास भी बारम्बार हुआ है कि वे अपने में आवश्यकीय परिवर्तन करेंगे। अभी तक जितना भी परिवर्तन हुआ [illegible] के किसी भी भाग में [illegible] सुविधा और भोग की सीमाओं में ही रह गये। सार्वभौम समाज संचेतना शिक्षाविदों के मानस में जागृत आधार अवतरित नहीं होना ही इसका प्रधान कारण मानते हैं। [illegible] शिक्षा के [illegible] विज्ञानात्मक [illegible] को [illegible] परन्तु इसे [illegible] के लिये आधार की कमी

और उसकी स्वतंत्रता में हस्तक्षेप की बात करते हैं। शिक्षा की व्यवस्था जिसे शिक्षाविद पूर्ण स्थापित कर चले रहे वह स्वयं व्यवसाय शिक्षा की सीमा में होना देखा जा रहा है। शासन और शिक्षाविद दोनों व्यवसाय शिक्षा के रूप में ही शिक्षा को पहचानते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ अभी तक की शिक्षा संचेतना व्यवसाय को ही मनुष्य का सर्वस्व मान कर चल रहे हैं। जब कि मनुष्य का सर्वस्व मानवीय संचेतना ही है जिसमें मानव मूल्य और समाज मूल्यों को पहचानने तथा साथ ही निर्वाह करने की व्यवस्था है। समाज के साधन के लिये व्यवसाय गण्य है। व्यवसाय समृद्धि के अर्थ में तब सार्थक होता है जब मानवीय संचेतना पूर्वक उत्पादन एवं उपभोग करता है। अन्यथा का व्यवसाय व्यवसाय के लिये सुविधा भोग अति भोग वह होगा के अर्थ में समृद्धि सिद्ध नहीं होती। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मानव मूल्य व मूल्यांकन विहीन सामाजिक आर्थिक एवं राजनैतिक कार्यक्रम मनुष्य समस्या के अनन्तर उससे विशाल समस्या का कारक सिद्ध हुआ।

इन तथ्यों से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि जब मानव जीवन मूल्य का अर्थात् प्रामाणिकता का पर्यावर्तन और प्रवर्तन कारी कार्यक्रमों से सम्बद्ध होना एक अपरिहार्य स्थिति है अन्यथा कई अन्य प्रकार से देखी जाने वाली समस्याओं मानव के अस्तित्व को ही नकारने की स्थिति अथवा अनावश्यक समझने की स्थिति को निर्मित कर देना कोई आश्चर्य नहीं होगा क्योंकि हम उस स्थिति में पहुँच गये हैं कि मानव का अस्तित्व रहेगा या नहीं। अस्तु उपाय यही है सर्व मंगल कार्य यही है कि मानव मानवीय संचेतनावादी अर्थात् सह अस्तित्व, समाधान, न्याय और समृद्धि पूर्ण होने के लिये ही मानव मूल्य, समाज मूल्य की पहचान एवं निर्वाह करने की पद्धति, प्रणाली एवं नीति को निर्मित करना समाधानित कदम है। साथ ही इसकी स्थापना और प्रमाणीकरण भटके हुये मानव का त्राण एवं प्राण होगा।

मानवीय संचेतना —

जीवन शक्तियों का संयुक्त परावर्तन प्रत्यावर्तन होना प्रत्येक मनुष्य में देखा जाता है। इस परावर्तन एवं प्रत्यावर्तन में मनुष्य को संवेदनशील एवं संज्ञानशील होना देखा जाता है यही संचेतना का अर्थ है। संचेतना अपरिष्कृत, परिष्कृत एवं परिष्कृत पूर्ण अवस्थाओं में होती पायी जाती है। मनुष्य का वर्तमान संचेतना ही है। अपरिष्कृत संचेतना पूर्वक मनुष्य अमानवीयता को परिष्कृत पूर्वक मानवीयता को अभिव्यक्त एवं संप्रेषित करता है। प्रकाशन जड़ चैतन्यात्मक प्रकृति में होना पाया जाता है। मनुष्येत्तर प्रकृति से भिन्न प्रक्रिया अभिव्यक्ति और संप्रेषण ही है। इसी के साथ संस्कार ग्राही पात्रता की विशालता भी दृष्टव्य है। इस प्रकार अभिव्यक्ति की क्षमता संप्रेषण की योग्यता और संस्कार ग्राही पात्रता जीवन समुच्चय का मानवीयता एवं मानवीयता के अर्थ में, सं. के लिये स्पष्ट कर देता है। अमानवीय संचेतना पूर्वक मनुष्य असामाजिक होना, मानवीय संचेतना (मानवीयता) पूर्वक सामाजिक होना पाया जाता है। अतिमानवीयता पूर्वक सामाजिक होता ही है साथ ही सामाजिकता के लिये प्रेरक भी होता है। इस प्रकार मानवीयता और अतिमानवीयता ही सामाजिकता के अर्थ को सार्थक बनाती है। उक्त तीनों स्थितियों का कारण [illegible] ज्ञान होता है। संचेतना पूर्वक सामाजिकता का वर्तमान [illegible] और आकांक्षा सहित होता है इसी भांति अमानवीयता भी ज्ञात है। अमानवीयता वादी [illegible] और आकांक्षा इस पर आधारित होने के कारण [illegible] सिद्धि नहीं होती क्योंकि अमानवीयता वादी आकांक्षायें [illegible] हैं। [illegible] संकीर्ण [illegible] हैं। [illegible] नहीं कहते [illegible] की वास्तविकता [illegible] जीवन में [illegible] है। [illegible] भी और [illegible] भी होना सुविधा [illegible] सुविधा वादी [illegible]। सुविधायें कितनी भी एकत्रित होने के पश्चात् और सुविधा की आवश्यकता का होना पाया जाता है। इस प्रकार अंतहीन सुविधा के [illegible] में ग्रस्त होने पर सामाजिक होने का प्रश्न ही नहीं रह जाता। इसी क्रम में मनुष्य स्वावलंबन के लिये दूसरे मनुष्य के अस्तित्व को नकारने की स्थिति में आ जाता है जिसे [illegible] संवेदनाओं की आशंका से [illegible] आशंका सिद्ध होता है और [illegible] जाति, जाति के बीच में, परिवार, परिवार के बीच में [illegible] के बीच में और [illegible] के बीच में आक्रमण [illegible] [illegible] युद्ध और शोषण ही रहा।

युद्ध मनुष्य के लिये आशित घटना और विनाश के लिये सहायक सिद्ध नहीं होता है। साथ ही युद्ध कुशलता और निपुणता रचनात्मक सिद्ध नहीं होती। इसके विपरीत में यह व्यक्तित्वात्मक मानव सिद्ध हुआ है। "मनुष्य का आजीवन शोषित होना नहीं है।" साथ ही जागृति, अभय, ज्ञानाभाव और सह अस्तित्व भी चाहता है। यही मानव की कामना एवं लक्ष्य है। यह मानवीय संचेतना पूर्वक ही अर्थात् परिष्कृत संचेतना पूर्वक ही सफल होता है अपरिष्कृत संचेतना पूर्वक सफल नहीं होती। अपरिष्कृत संचेतना पूर्वक मनुष्य की जागृति को भोग के अर्थ में वासना अतिभोग के अर्थ में संचालित करता है। फलस्वरूप शोषित व्यक्ति की इच्छा अंत तक शोषण करने के लिये विवश होता है इसका साक्ष्य अंतर्विरोध है। मनुष्य का अन्तर्विरोध स्वयं में व्यापकता और व्यवहार में असहअस्तित्व है। अन्तर्विरोध ध्वंसात्मक विकास के लिये विक्षेप है। व्यापकता जीवन गति को आधार नहीं होती क्योंकि व्यापकता किसी दिशा या लक्ष्य को नहीं पाती। लक्ष्य विहीनता एवं दिशा विहीनता स्वयं में भटकाव भ्रम और अंध है।

परिष्कृत संचेतना ही मूल्यों का धारक वाहक होती है।

अशोक शर्मा
अशोक शर्मा
अशोक शर्मा